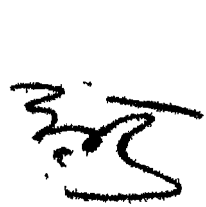
नामूलं लिख्यते किञ्चित्
नानपेक्षितमुच्यते ।

इन संस्मरणों को लिखते हुए मैंने दो बातों का ध्यान रखा है। पहली यह कि कोई बात निर्मूल न लिखी जाय और दूसरी यह कि आवश्यकता से अधिक न लिखा जाय। पाठक यह भी ध्यान में रखें कि इन संस्मरणों में मैंने जगबीती को प्रथम और आपबीतीको गौण मान लिया है। आपबीती वहीं तक प्रवेश पा सकी है, जहां तक जगबीती की सहायिका हो।



मूल्य एक रुपया

जेल में मेरा पहला दिन

(१)

जब से मैं इस योग्य हुआ कि देश की बात समझ सकूं, तब से मन में यह निश्चय सा कर लिया था कि एक न एक दिन जेल में जाना होगा। विद्यार्थी अवस्था में ही यह भावना पैदा हो चुकी थी। जेल के सम्बन्ध में पढ़ कर और सुन कर बहुत सी कल्पनायें भी बना रखी थीं, परन्तु जब पहली बार जेल जाने का अवसर आया, तब अनुभव हुआ कि केवल कल्पना असलियत तक पूरी तरह नहीं पहुंच सकती। जेल को जैसा समझा था, उस से कुछ भिन्न ही पाया। इसी कारण जेल में जाकर जैसे जीवन बिताना होगा, इसके सम्बन्ध में जो मनसूबे बांध रखे थे, वह भी न चल सके। परिस्थिति के अनुसार बदलना पड़ा।

(२)

सन् १९२७ के दिसम्बर मास की बात है। उस दिन कई महीनों से चल रहे अभियोग का फैसला सुनाया जाने वाला था। वह

अभियोग 'अर्जुन' में छपे हुए कुछ लेखों और समाचारों के आधार पर मेरे और सम्पादक के विरुद्ध चलाया गया था । जिन अङ्कों में वह लेख और समाचार प्रकाशित हुए थे, वह मेरी अनुपस्थिति में छपे थे ।

मैं उन दिनों परिवारसहित काश्मीर गया हुआ था । मेरी अनुपस्थिति को सरकारी वकील ने अदालत में स्वीकार कर लिया था, क्योंकि उन्हें मेरे काश्मीर जाने का व्यक्तिगत रूप से ज्ञान था । यूं भी मैं उन दिनों अर्जुन का केवल प्रकाशक था, सम्पादक नहीं । उस अभियोग में मेरी और सम्पादक की सफाई पंजाब के प्रसिद्ध बैरिस्टर, अपने जिले के सब से प्रमुख फौजदारी वकील रायजादा भगतराम जी द्वारा की गई थी । आप मेरे मामा थे । दिल्ली में कई प्रसिद्ध खून के मुकद्दमों में वह आ चुके थे, जिससे यहां उनकी ख्याति चरम सीमा तक पहुंच चुकी थी । जिस दिन उन्होंने मेरे मुकद्दमे में बहस की, अदालत का कमरा दिल्ली के वकीलों से खचाखच भरा हुआ था । बहस बहुत ही शानदार हुई, सफाई पेश हो जाने के पश्चात् श्रोताओं की राय यह थी कि मेरा अपराध—यदि अपराध माना ही जाय—तो केवल जाप्ते का है । इस लिए यदि सज़ा मिलेगी भी तो वह नाम मात्र की होगी । सम्भव है, १००—५० रुपये जुर्माना हो जाय । यही कारण था कि जब मैं फैसला सुनने के लिये अदालत गया, तो एक दम जेल जाने के लिये तैयार होकर नहीं गया था । समझा था कि पहले तो जेल की सजा होगी ही नहीं, यदि हुई भी तो अखबारी अभियोग में आसानी से जमानत हो जायगी । जो लोग मेरे साथ गये थे, वह भी इसी विचार के थे । सभी लोग बहुत आश्चर्यित हुए, जब एडिशनल डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने मेरी अनुपस्थिति को स्वीकार करते हुए भी मुझे साढ़े पांच साल की सख्त जेल और डेढ़ हजार रुपये जुर्माने की सजा दी । पूरा फैसला अभी टाइप होकर

तैयार नहीं हुआ था, इस कारण मजिस्ट्रेट ने केवल दण्ड सुना दिया। अभी मजिस्ट्रेट ने पूरी तरह दण्ड सुनाया भी नहीं था कि कटघरे में मेरे पीछे से आकर सिपाही ने कन्धों को छूकर मुझे और सम्पादक को इशारे से सूचित कर दिया कि हम लोग अब पुलिस के कब्जे में हैं और हमें वहां से चल देना चाहिये। इशारा पाकर हम दोनों कैदी सिपाही के पीछे पीछे चल दिये। दरवाजे के बाहर पुलिस की लारी तैयार खड़ी थी। हमारे बैठते ही वह चल दी और कोई १० मिनट में उस द्वार पर पहुंच गई, जिसके अन्दर जाने की प्रतीक्षा मैं बरसों से कर रहा था। हम दोनों को पुलिस की लारी ने जेल के द्वार पर पहुँचा कर उतार दिया।

(३)

साधारण रिवाज के अनुसार कैदी के पहुंचने पर जेल का द्वार खुल जाना चाहिए था, परन्तु हमारे मामले में एक अजीब उलझन उत्पन्न हो गई। सजा पाये हुए कैदी को जेल में तभी लिया जा सकता है, जब सजा का हुक्म साथ हो। हमारे साथ जो सिपाही गये थे, उनके पास हमारे दण्ड का आज्ञापत्र नहीं था। दरवाजे के सन्तरी ने सिपाही से आज्ञा-पत्र मांगा। सिपाही ने उत्तर दिया कि वारंट पीछे आ जायगा, इन कैदियों को अभी जेल में ले लिया जाय। इस पर जेल के दफ्तर में हलचल सी मच गई। जेलर, एसिस्टेन्ट जेलर और बहुत से कर्मचारी ड्योढ़ी में इकट्ठे होकर हम लोगों को उत्सुकता से देखने लगे। जेलर ने कचहरी से टेलीफोन पर बातचीत की, तो उसे यही उत्तर मिला कि कैदियों को अन्दर ले लो, वारन्ट पीछे आता रहेगा। लगभग १५ मिन्ट के गोलमाल के पश्चात् हमें जेल के मुख्य द्वार के अन्दर ले लिया गया। वारंट आने में देर थी, इस कारण हमें दफ्तर में ही बिठा दिया गया। लगभग २ घण्टे के पश्चात् हमारी सजा का हुक्म पहुंचा, तो उस में एक और गड़बड़ पाई गई। मुझ पर जो

अभियोग चलाया गया था, वह तीन लेखों के सम्बन्ध में था। हर एक लेख पर अलग २ सजा दी गई थी। आज्ञापत्र में पहले यह लिखा गया था कि तीनों आज्ञायें साथ साथ चलेंगी। अन्त में तीनों सजाओं की सम्मिलित अवधि एक सजा के बराबर ही लिखी गई थी। प्रतीत होता था कि आज्ञा-पत्र लिखे जाने के पश्चात् उसमें परिवर्तन किया गया। जहां लिखा था कि तीनों सजायें 'साथ-साथ चलेंगी' उसे काट कर स्याही से लिखा गया था कि तीनों सजायें आगे पीछे चलेंगी। इस एक परिवर्तन से सजा तो तिगुनी हो गई, परन्तु मजिस्ट्रेट साहब सजाओं के जोड़ में परिवर्तन करना भूल गये। सम्मिलित सजा १/३ ही बनी रही। वह कांट छांट वाला वारन्ट मैंने भी देखा, उस समय मुझे याद आया कि अदालत में जब मजिस्ट्रेट आज्ञा सुनाने के लिए बिल्कुल तैयार था तब उसे टेलीफोन सुनने के लिए जाना पड़ा था। उसके पश्चात् मजिस्ट्रेट ने कुछ देर तक दफ्तर में जाकर सलाह की, तब आज्ञा सुनाई गई। सुनाते समय भी मजिस्ट्रेट गड़बड़ में पड़ गया और परस्पर विरोध की बातें कह गया। हम लोग तो जेल चले गये, पर हमारे साथी और वकील देर तक मजिस्ट्रेट से उलझते रहे। वह उलझन वारंट तक तो विद्यमान रही ही, जब सैशन में जमानत के लिए दरख्वास्त दी गई तब सैशन जज के सामने सरकारी वकील को भी मानना पड़ा कि वारंट में काट छांट की गई है। हम लोगों का यह समझना स्वाभाविक ही था कि वह काट छांट ठीक समय पर आये हुए टेलीफोन का परिणाम थी।

(४)

वारंट आ जाने पर भी जेलवाले यह निश्चय न कर सके कि वह हमारे साथ क्या सलूक करें? शायद उन्हें यह आशा थी कि हमें जमानत पर छुड़ा लिया जायगा। इस कारण हम सारा दिन जेल के दफ्तर में बैठे हुए वहां की कागजी घिस-घिस को देखते रहे। यह

पूछने पर कि हमें अन्दर कब भेजा जायगा उत्तर मिलता था कि अभी आप लोगों के बारे में कुछ फैसला नहीं हुआ। जब फैसला हो जायगा, तब आप अन्दर पहुंचा दिये जायेंगे।

इसी तरह दिन बीत गया। जेल बन्द होने का समय आ गया। अब तो जेल के अधिकारियो के पास हमें अन्दर भेजने के सिवा और कोई चारा ही नहीं था। जेलर ने आज्ञा दी कि जब तक इन कैदियों के बारे में आखरी फैसला नहीं होता, तब तक इन्हें बारक नम्बर २ में भेज दिया जाय। तदनुसार एक असिस्टेंट जेलर हमें बारक न० २ में पहुंचाने के लिए रवाना हुआ।

जेल के अन्दर की आपबीती सुनाने से पहले यह उचित प्रतीत होता है कि पहली नजर में दिल्ली जेल के दफ्तर का जो रूप दिखाई दिया, उस का कुछ विवरण यहां दे दिया जाय। जिस इमारत में भारत की राजधानी का सरकारी कारागार बनाया गया है, वह मुगलों के राज्यकाल में एक भटियारन की सराय थी। चार दिवारी का निचला हिस्सा उसी सराय का अवशेष है। दफ्तर के कमरे भी पुराने सदर दरवाजे के स्मारक हैं। अब तो उनमें बहुत सा सुधार कर दिया गया है परन्तु जब पहली बार मैंने उन्हें देखा था, तब वह गन्देपन के नमूने बने हुए थे। पत्थर की दीवारों पर प्लास्टर नहीं किया गया था, जिस से बीच-बीच में गर्द भरी हुई थीं। दीवारों के कोनों छतों और कौरनिशों में जालों और कबूतरों की भरमार थी। दफ्तर के भीतरी कमरों में हल्की हल्की सी बदबू निरन्तर आती रहती थी। जेल के दफ्तर में लगभग ६ घण्टे बैठकर मैं जिस परिणाम पर पहुंचा, वह यह था कि दिल्ली प्रान्त का प्रबन्ध बहुत ही निकम्मा और मैला है। जिस दफ्तर में सफाई की व्यवस्था नहीं हो सकती, उसका आन्तरिक प्रबन्ध साफ सुथरा कैसे रह सकता है।

(५)

शाम के लगभग ६ बजे जेल के अन्दर जाने का द्वार बड़ी आवाज के साथ खुला और हम अन्दर चले गये। अन्दर पहुंच कर सबसे पहले हमारा परिचय एक सज्जन से कराया गया, जिसका नाम हमने अखबारों में पढ़ रखा था। उन्हें जेल में 'महन्तजी' के नाम से पुकारा जाता था। वह उन महन्तों में गिने जाते थे, जिन्हें लखपतियों की कोटि में रखा जाता है। वह प्रसिद्ध ननकाना के गुरुद्वारे के महन्त नारायणदास थे। इस समय वह जन्मकैद लेकर जेल में आये थे। समाचारपत्रों के समाचारों से महन्तजी का जो मानसिक चित्र हम लोगों ने खेंच रखा था, उससे बहुत कुछ विपरीत ही दिखाई दिये। दिल्ली जेल में लगभग १० साल तक महन्तजी का विशेष स्थान रहा। कैसा स्थान रहा यह इन संस्मरणों से स्वयं स्पष्ट हो जायगा।

असिस्टेन्ट जेलर ने दरवाजे के अन्दर पहुंच कर हम दोनों को महन्तजी के सुपुर्द कर दिया। महन्तजी हमें लेकर बारग नम्बर २ में चले गये। बारग न० दो में लगभग ३० कैदियों के सोने के लिये चबूतरे से बने हुए थे। चबूतरे के बीच में आने जाने और बैठने योग्य जगह खाली थी। बारग के अन्दर ले जाकर महन्तजी ने हमें चबूतरे दिखा दिए, जिन पर एक-एक चटाई, दो-दो काले पुराने कम्बल और एक-एक चादर रखी हुई थी। उसी समय गोदाम से लाकर लोहे के २ तसले भी हमें दिये गए। थोड़ी देर में कैदियों की गिनती हो गई और हम भी कैदियों में गिन लिये गये। गिनती से पहले खाना बंट गया था। दो-दो रोटियां और तसले में दाल, यह प्रत्येक कैदी का खाना था। हमारे हिस्से का खाना लेकर अलग रख दिया गया, शायद इस ख्याल से कि पहले दिन ही हम पर जेल का बुरा असर न हो, वह खाना हमारे सामने भी नहीं रखा गया। जब और कैदी खाना खाने लगे तो हमने महन्तजी की ओर देखा। उन्होंने हमें तसल्ली देते हुए कहा 'थोड़ी देर ठहर जाओ

सब ठीक हो जायगा।'

थोड़ी देर में जेल पर तालों का राज्य हो गया। कोठरी से लेकर बड़े दरवाजे तक ताले बन्दकर दिये गये और पहरेदारों को छोड़ कर शेष सिपाही जेल से बाहर चले गये।

अब महन्तजी ने अपना अल्लाउद्दीन का चिराग हाथ में लिया जिस चबूतरे पर वह सोते थे, उसके पास एक चटाई बिछी हुई थी। चटाई उठाई गई और उसके नीचे की ईंटें निकाल ली गईं। अब तो वहां एक लम्बा चौड़ा तहखाना-सा दिखाई देने लगा। उस में से एक एक करके अंगीठी जलाने की लकड़ी, पतीली, सब्जी, घी, आदि रसोई की सब आवश्यक चीजें निकल आईं। कुछ ही मिनटों में अंगीठी गरम हो गई और सब्जी बनने लगी। घण्टे भर में भोजन का पूरा सामान तैयार हो गया। जब भरपेट भोजन हो चुका, तब जैसे उस सृष्टि का फैलाव हुआ था वैसे ही वह समेट ली गई। रात के ११ बजने से पहले उस स्थान पर एक चटाई पड़ी थी और उस पर दो तख्ते रखे हुए थे।

जेल का यह पहलू हमारे लिये बिल्कुल नया था। हमने पूछा तो हमें बतलाया गया कि इसे जेल की परिभाषा में 'बदमाशी' कहा जाता है और इस तरह की बदमाशी करने के लिए सिपाहियों और अधिकारियों के सामने चांदीके कुछ टुकड़े डालने की आवश्यकता होती है। उन टुकड़ों की कृपा से छोटे बड़े सब अधिकारी बदमाशी में हिस्सेदार हो जाते हैं।

खाना खा कर हम चबूतरों पर लेट गए। सर्दी की रात थी, इस लिए कम्बल ओढ़ने ही पड़े। कम्बलों में खटमलों की अक्षौहिणी सेना का निवास था। ओढ़ते ही सेनाएं कम्बलों को छोड़ कर हमें चिपट गईं। सोना बिल्कुल असम्भव हो गया। बीच में कभी-कभी ऊंघ आ भी जाती थी तो जेल का पहरेदार 'सब अच्छा' की चिल्लाहट से उसे 'ठिक देता था। यह चिल्लाहट हर पांच मिनट के पश्चात् सुनाई देती

थीं। आश्चर्य इस बात का था कि अभ्यास के कारण बारग के शेष सब कैदी खटमलों और पहरेदारों को धता धता कर गहरी नींद सो रहे थे।

(६)

इस तरह हमारी पहली रात कटी। ब्राह्म महूर्त में, जेल के ताले खुलने से पहले ही न जाने कहां से एक सिपाही एक बड़े बरतन में गर्मा-गर्म चाय और कुछ मिठाई लेकर आया और महन्तजी को देकर चला गया। उससे हम लोगों का सुबह का नाश्ता पूरा हुआ। थोड़ी देर बाद कैदियों की गिनती हुई, ताले खोले गए और प्रातःकाल का नाश्ता बांटा गया। जहां तक मुझे याद है उस दिन के नाश्ते में भुने हुए बासी चने बांटे गए थे। मैंने वह चने ले तो लिये, परन्तु चाय ले चुका था, इस कारण जेब में डाल लिए।

नाश्ते के उपरान्त शेष सब कैदी कारखाने में भेज दिये गये। केवल हम दोनों शेष रह गये। जेलवाले अब तक भी निश्चय नहीं कर कर सके थे कि हम दोनों का क्या किया जाय? हमारी तरह प्रायः जेल वाले भी हमारी सजा के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। वह समझते थे कि सजा मिलते ही हमें जमानत पर छुड़ा लिया जायगा। हमारे बन्धुओं ने बहुत सी भाग दौड़ की भी परन्तु अदालत का फैसला पूरी तरह तैयार ही नहीं था, उसको प्रतिलिपि कैसे मिलती और प्रतिलिपि के बिना जमानत की दरखास्त कैसे सुनी जाती? पहला दिन इसी तरह निकल गया। जेलवालों ने सोचा कि दूसरे दिन अदालत खुलने पर जमानत तो हो ही जायगी तब व्यर्थ में लम्बा झगड़ा क्यों किया जाय। अन्य सब कैदियों के कारखाने में चले जाने पर हमें जेल के एकान्त कोने में चटाई डाल कर बिठला दिया गया। हम प्रतीक्षा करने लगे और प्रतीक्षा करते-करते दिन के दो बज गये। जेलवाले हमें ऐसे भूले कि खाने तक को न पूछा। उस समय सुबह के नाश्ते के चने काम में आये। हमारा वह समय कैसे कटा, इसके बारे में प्रचलित मुहावरे के अनुसार यही कहा

जा सकता है कि हम सुबह के ८ बजे से दिन के दो बजे तक चटाई पर बैठे मक्खियां मारते रहे।

(७)

दो बजे के पश्चात् नाटक का तीसरा अङ्क शुरू हुआ। एक असिस्टेन्ट जेलर वस्तुतः भागा हुआ आया और हमसे एकदम कपड़ा गोदाम में चलने के लिये कहने लगा। कारण पूछने पर उसने बतलाया कि अभी सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब का फोन आया है कि वह आ रहे हैं। शायद वह आप ही लोगों को देखने आ रहे हैं। आप दोनों को कठोर कारागार की सजा मिली है। आपको अबतक जेलके कपड़े मिलजाने चाहिए थे, अगर साहब ने आपको इन कपड़ों में देख लिया तो हमारी नौकरियां चली जाएंगी। जल्दी करने का जो कारण उसने बतलाया वह हमें काफी उचित प्रतीत हुआ, अतः हम भी भागे हुए उसके पीछे पीछे कपड़ा गोदाम में पहुंच गये। वहां हमें जेल के कपड़े दे दिये गये। दो कुर्ते, दो पायजामे, एक कनटोप और एक गर्म वास्कट, बस, यही एक व्यक्ति का सामान था। कम्बल और तसला पहले ही मिल चुके थे। पहने हुए कपड़े उतार कर और गठड़ी में बांध कर जेलवालों के सुपुर्द कर दिये और सोलहों आने कैदी बन कर हम दोनों (मैं और सम्पादक) जेल के वार्डर के साथ चक्कियों की ओर रवाना हुए। दिल्ली जेल में 'चक्कियां' उन कोठरियों का नाम था, जिनमें या तो चक्की पीसने की मुशकत करनेवाले कैदी रखे जाते थे अथवा पागल और छूतवाली बीमारी के रोगी और हत्या के अपराधी बन्द किये जाते थे। उसी लाइन में फांसीघर भी बना हुआ था। १६२७ में राजनैतिक कैदियों की कोई अलग श्रेणी नहीं थी और न कोई क्लासें ही बनाई गई थीं, इस लिये हम लोगों को दिल्ली जेल की सब से छोटी और सब से गन्दी कोठरियों में रखना उचित समझा गया। इस तरह जेल के बड़े फाटक में प्रविष्ट होने के लगभग २५ घण्टे पश्चात् जेली वेष में जेल की चटाई और

कम्बल बगल में दबा कर हम लोग दिल्ली जेल की सब से गन्दी कोठरियों में जेल जीवन का पहला और सब से कड़वा अनुभव प्राप्त करने के लिये जा पहुंचे।

आगे चलने से पूर्व, यहां यह बतला देना आवश्यक है कि दिल्ली की जेल उन दिनों उससे भी कहीं अधिक गन्दी थी जैसी कि अब है। उन दिनों जेल का कोई भाग ऐसा नहीं था जिस में हल्की-हल्की बदबू न आती हो। इतनी मक्खियां मैंने आज तक अपने जीवन में कहीं नहीं देखीं, जितनी उस जेल में थीं, फिर वह भी बहुत ढीठ। तसले में पानी लेकर मुंह तक पहुंचाने से पहले ही उसमें दसों मक्खियें पड़ जाती थीं। जो खाना जेल की ओर से बांटा जाता था उस में तो मसाले से अधिक मक्खियों की मात्रा रहती थी।

दिन के तीन बज रहे थे। जेलवाले हमारा राशन देना भूल गये थे, इस लिये हमें रोटी नहीं मिली थी और इधर मक्खियों और बदबू के मारे तबीयत परेशान थी। इस सारी परेशानी को जीवन के एक नये अनुभव की हंसी द्वारा टालते हुए हम जब नम्बर १२ और १३ की कोठरियों में पहूँचे तब सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब भी जेल की ड्योढ़ी में पहुंच चुके थे।

दिल्ली जेल की उस कोठरी को देख कर पहले तो मन में बहुत ही घृणा सी पैदा हुई। कोठरी इतनी छोटी अंधेरी और मैली थी कि उसमें मनुष्य का निवास हो सकता है, यह समझना ही कठिन था, परन्तु शीघ्र ही ध्यान आ गया कि यही तो जेल है, जिसमें जाने की मैं प्रतीक्षा कर रहा था। इस विचार के मनमें आते ही दिल हल्का हो गया और मैंने अन्दर जाकर चटाई डाल दी और उस पर अपना सामान—अर्थात् जेल का कम्बल, चादर और तसला रख दिया। इतने में हमारे जेल में आने की खबर पाकर दो पड़ौसी कैदी अगवानी को आ गये। उनमें से एक बङ्गाली नौजवान था, जो क्रांतिकारी होने

के अपराध में दण्ड भोग रहा था। दूसरा एक सैयद नौजवान था, जिसे ४२० (धोखा देही) के अपराध में आठ साल की सजा मिली थी। दोनों ही पड़ौसी इतने सज्जन और मिलनसार थे कि पाच ही मिनट मे मेरे साथ उनका बन्धु-भाव स्थापित हो गया, मानों वर्षों के परिचित हो। उनसे मिलने पर स्थान की नवीनता भी जाती रही, प्रतीत होने लगा मानों हम देर से एक साथ रहते आये हैं।

लगभग एक घण्टा तक हम असली कैदी वेप में रहे। अभी उस वेप की नवीनता का मजा हलका भी न होने पाया था कि महन्तजी जेल की ड्योढ़ी से आये और हम से कहने लगे कि जल्दी चलिए, आप लोगों के कपड़े बदले जायंगे। कारण पूछने पर बतलाया गया कि हमारी सजा सख्त से हटाकर महज कर दी गई है, परन्तु जमानत मंजूर नही हुई। हमारा परिवार मुलाकात के लिये आया है, यह जानकर मैंने महन्तजी से कहा कि हमें एक वार इसी कैदी वेष में परिवार से मिल लेने दीजिये ताकि वह भी कैदियों का असली रूप देख सकें। पर जेल के अधिकारियों ने यह नहीं माना और हमें एक घण्टे के साथी जेल के उन कपड़ों को छोड़ने के लिये बाधित किया। कपड़े बदल कर हम लोग परिवार से मिले तो मालूम हुआ कि जब सैशन जज के सामने जमानत की दर्खास्त पेश की गई, तो सरकारी वकील ने उसका जोरदार विरोध करते हुए कहा कि यदि हमें जेल से बाहर निकाला गया तो शहर में बहुत बड़ा प्रदर्शन हो जायगा जिससे दंगे का डर है। इस पर सैशन जज ने मजिस्ट्रेट के फैसले को सरसरी ढंग से पढ़कर आज्ञा दी कि जमानत की दर्खास्त नामंजूर की जाती है, परन्तु सजा सख्त की जगह महज कर दी जाय, शेष निश्चय अपील सुनने पर किया जायगा। इस तरह हमारी पहली जेलयात्रा प्रमाणित रूप से आरम्भ हुई।

मैंने इससे पूर्व लिखा था कि जेल जाने से पहले मेरे मन में जेलजीवन का एक काल्पनिक चित्र बना हुआ था। उस चित्र में

प्रत्येक कैदी जेल के नियमों के अनुसार काम करता दिखाई देता था। जो कैदी नियमों का उल्लंघन करे, उसे दण्ड मिलता था और जो पालन करे वह शांत जीवन व्यतीत कर सकता था। दूसरे ही दिन से मुझे यह अनुभव होने लगा कि मेरा बनाया हुआ काल्पनिक चित्र बहुत कुछ अयथार्थ था। कहा जाता है कि जेल केवल अपराधियों को दण्ड देने का ही स्थान नहीं, उनके सुधारने का भी साधन है, मैंने जेल में दो दिन रह कर ही यह अनुभव कर लिया कि यह कथन सर्वथा असत्य है। सचाई इससे बिल्कुल उल्टी है। आज कल के कारागारों को अपराधों की शिक्षा के विश्वविद्यालय कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस विचार की पुष्टि में मैं जेल की कुछ आपबीती घटनायें सुनाऊंगा।

(८)

पहली घटना का सूत्रपात दिल्ली के जेलजीवन के तीसरे ही दिन हो गया। प्रातःकाल के समय, जब अभी जेल के ताले भी नहीं खुले थे, एक नम्बरदार चाय के दो गिलास लेकर आया और सलाखों के बीच में से ही हमें पकड़ा कर प्रतीक्षा करने लगा कि हम चाय पी लें तो वह गिलास वापस ले जाए। मैंने पूछा कि चाय किसने भेजी है? उत्तर मिला कि महन्त जी ने भेजी है। मैंने चाय पी ली और गिलास वापिस कर दिया। लगभग एक सप्ताह तक प्रातःकाल की चाय का यह सिलसिला चलता रहा। बन्द जेल में नम्बरदार का चाय का गिलास हाथ में लिये हुए चक्कियों तक पहुंच जाना अधिकारियों की राजी के बिना सम्भव नहीं, यह समझकर हम निश्चिन्तता से चाय का प्रातराश (सुबह का नाश्ता) करते रहे। जब सप्ताह बदला और अगले सोमवार के प्रातःकाल चाय नहीं पहुंची, तब हमें कुछ आश्चर्य हुआ। दिन में पूछने पर मालूम हुआ कि चक्कियों का पहरेदार बदल गया है। नया पहरेदार एक पंजाबी मुसलमान है, जो झंग की ओर का रहनेवाला

है। उसे हैडवार्डर ने विशेष रूप से यह आदेश देकर तैनात किया है कि वह हम तक कोई रियायती चीजें न पहुंचने दे, चाहे वे असिस्टेंट जेलर द्वारा ही भिजवाई गई हों। दिन में जब वार्ड के कैदी इकट्ठे हुए तब इस घटना पर परामर्श हुआ। मैंने लेख के आरम्भ में अपने पड़ोसी नौजवान सैयद का निर्देश किया है। वह नौजवान अपने ढग का ऐसा अद्भुत नमूना था कि मैं कुछ शब्दों में उसका वर्णन करने के प्रलोभन को नहीं रोक सकता। वह एक सेशन जज का लड़का था, बी. ए. तक पढ़ा हुआ था और फारसी का बहुत अच्छा आलिम था। मिलने जुलने में बहुत ही मीठा, देखने में ऐन चुस्त और बातचीत में अत्यन्त उदार प्रतीत होता था। यह सब होते हुए भी उसके मन की यह विशेषता थी कि वह हर एक काम को पूरा करने के टेढ़े रास्तों को सोचने में संलग्न रहता था। चार-सौ-बीस में उसे मजा आता था। वह एक बहुत प्रसिद्ध और सनसनी पूर्ण जालसाजी के मामले में ८ साल की सजा लेकर आया था। यह उस समय का नौजवान अब प्रौढ़ हो गया है। उन थोड़े से दिनों के पड़ोस ने मेरे मन म उसके लिए सौहार्द का भाव उत्पन्न कर दिया था, इस कारण यहां मैं इस से अधिक परिचय न देकर प्रासंगिक घटना की ओर आता हूं।

जब दोपहर के समय मैंने सुबह की चायवाली बात सुनाई तो सैयद साहब ने कहा—'पं० साहब, आप जरा फिक्र न करें, इस आदमी को मैं समझ लूंगा। आप मुझे दो दिन की मुहलत दीजिये।' मैं उसकी चतुराई के किस्से सुन चुका था। मैंने कहा "बहुत अच्छा, आप अपना तजर्बा कीजिये।"

रात को जब वह वार्डर ड्यूटी पर आया तो सैयद साहब ने, जो उस समय कोठरी में बन्द हो चुके थे, सलाखों में से उसे पास लाया और कुशल समाचार पूछा। जेल में यह सभी को मालूम

था कि सैयद साहब सैयद होने के साथ साथ बहुत बड़े अफसर के साहब-जादे भी हैं । सिपाही उनके बुलाने और कुशल समाचार पूछने से बहुत संतुष्ट होकर पास आया और सलाम किया । सैयद साहब ने पूछा, 'अय्या, तुम कुछ सुस्त से नजर आते हो, क्या बात है ?' अक्खड़ सिपाही सहानुभूति से प्रभावित होकर बोला, 'सैयद साहब, क्या कहूं, बड़ी तकलीफ में हूं । पिछले दिनों मेरी औरत मर गई थी । घर सुनसान हो गया है । अब शादी करना चाहता हूं, पर औरत नहीं मिलती ।'

इस पर सैयद साहब में और सिपाही में निम्नलिखित बातचीत हुई, जिसे मैं अपनी कोठरी से भली प्रकार सुन रहा था ।

सैयद साहब ने कहा—'बस इतनी सी बात है । भाई, इसका इलाज तो आसानी से हो सकता है ।'

'यह तो बड़ी मेहरबानी होगी सैयद साहब ! बतलाइये तो क्या इलाज है ?'

'क्या तुमने कभी इसी मन्शा को लेकर कुरानशरीफ की तलावत कराई है ?'

'नहीं तो !'

'तब तो भाई तुम्हारा काम पूरा होना मुश्किल है । तलावत कराओ ।

'किस से कराऊं सैयद साहब ?'

'किसी सैयद से ?'

'तब तो आप ही कर दीजिये ना सैयद साहब । आप से अच्छा आदमी कहां मिलेगा, आप तो बहुत ही रहमदिल हैं ।'

सैयद साहब कुछ देर तक चुप रहे, फिर बोले—

'भाई, मैं तो किसी दूसरी मन्शा से तलावत कर रहा हूँ पर खैर तुम्हारा भी भला हो जाय तो अच्छा है । तुम्हें भी उस में शामिल कर

लूंगा। लेकिन, मेरी तलावत तभी कामयाब होगी जब तुम भी मेरी हिदायतों पर चलोगे।'

सिपाही ने उत्तर दियाः—

'हजार हजार शुक्रिया हजूर, जब आप मेरे लिये इतना करेंगे तो मैं आप की हिदायतों पर अमल क्यों न करूंगा? फरमाइये, क्या हुक्म है?'

सैयद साहब ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया 'अपने दिल को पाक और दूसरों के लिये भला बनाओ, दूसरों पर जुल्म करना छोड़ दो। इतना आज कह दिया, बाकी हिदायतें कल दी जायगीं।'

इस तरह नाटक का पहला अङ्क समाप्त हुआ। अगली रात को ड्यूटी के समय सिपाही ने दरवाजे के सामने पहुंच कर आदर पूर्वक बन्दगी करते हुए कहा—

'हजूर ने तलावत शुरू कर दी?'

हजूर ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया। 'हां कर दी।'

सिपाही ने पूछा—

'कोई और हुक्म?'

'हां, है। हमारा पासवाली कोठरी में जो साहब कैद हैं, वह बहुत बड़े आलिम और पहुंचे हुए आदमी हैं। तुम से उन्हें तकलीफ पहुंची है। वह नहीं पहुंचनी चाहिये। अगर तकलीफ पहुंचाओगे, तो हमारी तलावत फिजूल चली जायगी।'

सिपाही ने झुक कर अर्ज किया,—

'नहीं हुजूर, अब ऐसा नहीं होगा। मैं किसी पर सख्ती न करूंगा।'

तीर चल गया और निशाने पर लगा। अगले रोज से हमारी चाय बिना किसी रोक-टोक के पहुंचने लगी। सैयद साहब से जब दोस्तों ने पूछा कि 'जनाब क्या सचमुच आप तलावत करने लगे?' तो आपने

उत्तर दिया कि 'वह तो मैं हमेशा से ही करता हूँ।' सुबह दरवाजा खुलने से पहले पूरा सिगरेट का एक पैकट पी जाते थे। मालूम होता है, उस समय मन में तलावत ही किया करते थे।

वह काम तो हो गया, पर अब चिन्ता यह हुई कि इस भूत को यहां से टाला कैसे जाय? कुछ दिनों में तलावत की बात तो समाप्त हो जायगी, फिर शादी न होने पर बिगड़ कर वह सिपाही जो जो सख्तियां कर सकता था, उनकी कल्पना हम आसानी से कर सकते थे। इस आशङ्का का उपाय भी सैयद साहब ने ही किया। सातवें रोज आपने सिपाही से कहा—'भाई हमारी तलावत चल रही है। दिल कहता है, तुम्हें कामयाबी जरूर होगी। तुम्हें चाहिये कि कम से कम १५ दिन की छुट्टी लेकर घर चले जाओ। हमारी तलावत चल रही होगी, इसी बीच में तुम थोड़ी सी कोशिश करोगे तो तुम्हें औरत मिल जायगी।"

सिपाही ने अगले दिन छुट्टी की दरख्वास्त दे दी, उसे स्वीकार कराने के लिए कुछ प्रयत्न हम लोगों को भी करना पड़ा। वह घर चला गया। जब वह पंद्रह दिन के बाद खाली हाथ घर से वापिस आया, तब उस की ड्यूटी ड्योढ़ी के बाहर लग चुकी थी। कई सप्ताहों तक सैयद साहब पर दांत पीसता और सिपाहियों के हाथ धमकियों के सन्देश भेजता रहा, पर उसका पहरा ड्योढ़ी के बाहर था और हम अन्दर। वह हम लोगों का कुछ न बिगाड़ सका।

एक बला तो टल गई, परन्तु, 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।' जेल में निश्चिन्तता कहां? लम्बी दाढ़ीवाला हैडवार्डर हम लोगों के पीछे बुरी तरह पड़ा हुआ था। वह स्वयं भी मुतअस्सब था और कहा जाता था कि उसे जेल के दारोगा (जो एक खां साहब थे) ने आज्ञा दे रक्खी थी कि इन नये कैदियों पर खास नजर रखी जाय। हैडवार्डर ने हमारे वार्ड पर नये पहरेदार को नियुक्त करते

हुए यह आज्ञा दे दी कि इन दो कैदियों के पास बाहर से कोई सामान न पहुंचने पाय। उस सिपाही ने आते ही धूमधाम से यह घोषणा कर दी कि अब तक जो कुछ हुआ सो हुआ, अब इन बाबू लोगों के पास कोई नाजायज चीज न पहुंच सकेगी और इन्हें बहुत देर तक खुला भी न छोड़ा जायगा।

इस आज्ञा पर विचार करने के लिए दो पहर के समय फिर हम लोगों की कान्फ्रेंस हुई।

(३)

नया वार्डर कुछ पढ़ा लिखा था। उस की शक्ल सूरत में भी अक्खड़पन कम था, परन्तु था हेडवार्डर साहब का खास गुर्गा। उसने दूसरे दिन प्रातःकाल न केवल चाय का गिलास ही रास्ते में रोक दिया, दोपहर के बारह बजे चाबियों का गुच्छा लेकर हमारी कोठरियों को बन्द करने के लिए भी आ गया। वह दो घन्टे जेल के अधिकारियों की छुट्टी के थे, उस समय वह लोग अपने-अपने घरों को खाना खाने के लिए जाते थे। नियमों के अनुसार उस समय सारा जेल बन्द होजाना चाहिये था, परन्तु अभी तक हम चार पढ़े-लिखे कैदियों को बन्द नहीं किया जाता था। उस दिन नये वार्डर साहब हैडवार्डर का परवाना लेकर चाबियों का मार्शल ला लगाने के लिये आ पहुंचे। इस आफत को टालने के लिए हम लोगों ने सैयद साहब को अपना लीडर बनाया। वह कोठरी के दरवाजे के बाहर खड़े होकर बड़ी लापरवाही से कैंची का सिगरेट पी रहे थे। वार्डर ने उन्हें कोठरी में जाने को कहा तो दो-तीन बार तो उन्होंने बिलकुल अनसुना कर दिया। जब उसने अपने हुकम को जोर से दोहराया तो सैयद साहब ने डांट कर पूछा "क्या वारण्ट लाये हो ?" उसने रोब में आ कर जवाब दिया—'जनाब मेरे पास कोई वारण्ट नहीं है, हाँ हैडवार्डर साहब का हुकम है।' सैयद साहब ने बड़ी से अन्तिम फैसला सुना दिया कि 'भाई, तुम्हें शायद माल

लोगों को दोपहर के वक्त बन्द करने के लिये जेलर साहब के दस्तखतों वाला वारण्ट चाहिये। उसके बगैर हमें बन्द नहीं किया जा सकता, कल वारण्ट लेकर आना।'

वार्डर लाचार था। बहुत अच्छा कह कर चुप हो गया, जिस से हमारी उस समय की मुसीबत टल गई। जब वार्डर पहरा देने दूर निकल गया तो हमारी कान्फ्रेन्स बैठी, जिसमें नये सङ्कट के निवारण पर विचार होता रहा। अन्त में सङ्कट निवारण का काम जनाब सैयद साहब के ही सुपुर्द किया गया।

हम सब लोग अपनी अपनी कोठरियों में जा बैठे। जब वार्डर टहलता हुआ उधर से निकला तो सैयद साहब ने उसे आवाज दे कर अपनी कोठरी में बुला लिया और प्रेमपूर्वक पास बिठा कर बातचीत करने लगे। सैयदों की आम मुसलमानो में वही स्थिति है जो हिन्दुओं में ब्राह्मणों की। जेल के प्रायः सभी मुसलमान सिपाही और नम्बरदार हमारे नौजवान दोस्त का आदर करते थे। वार्डर से बातचीत करते हुए सैयद साहब ने उससे पूछा कि भाई, तुम्हारी आंखोंमें खुमारी-सी क्यों मालूम होती है। क्या रात सोये नहीं? वार्डर ने उत्तर दिया—आपने ठीक समझा है सैयद साहब। कल रात जागते ही कटी। बात यह है कि मुझे थियेटर देखने का शौक है। यह सुन कर कि पत्थरवाले कुंए पर ईश्वर भक्ति का खेल हो रहा है, मैं भी देखने चला गया, लेकिन वहां इतना शोर था कि टिकिट की चवन्नी भी बरबाद हुई और रात को नींद भी खराब गई, कुछ भी पल्ले न पड़ा। सैयद साहब को अपनी मुख्य बात टेकने का सहारा मिल गया। बोले "यह तो ठीक नहीं हुआ भाई, कहो तो कुछ ऐसा इन्तजाम करें कि तुम ईश्वरभक्ति का खेल खूब अच्छी तरह देख सको।"

"तब तो बड़ी इनायत होगी सैयद साहब। मुझे थियेटर का ...र है।"

'अच्छा देखेंगे कल इसी समय पूछना ।' यह कह कर सैयद साहब ने उस समय की बातचीत बन्द कर दी । इस तरह एक दिन की मोहलत मिल गई । इसी बीच में हमने पूरा कार्यक्रम तैयार कर लिया । अगले दिन वार्डर ने बन्द होने की कोई बात नहीं कही और सैयद साहब से थियेटर देखने की बाबत पूछा । उत्तर में सै.द साहब ने उसे बतलाया कि पास की कोठरी में जो पंडित साहब रहते हैं, वह दिल्ली के बहुत बड़े आदमी हैं । उनके जरा से इशारे से तुम गद्दों पर बैठकर थियेटर देख सकते हो । तुम उनसे जाकर कहो, तुम्हारा काम हो जायगा । तब वह मेरे पास आया । मैंने एक कागज के टुकड़े पर 'अर्जुन' के मैनेजर के नाम एक चिट्ठी लिख दी, जिसमें मैंने गोलमाल भाषा में यह इशारा दे दिया कि पत्रवाहक और इसके एक मित्र को अपने साथ ले जाकर ईश्वर-भक्ति का खेल दिखाने का प्रबन्ध कर देना । शाम के समय वार्डर साहब 'अर्जुन' प्रेस में पहुंचकर मैनेजर से मिले । मैनेजर ने तीन आदमियों का पास मगा लिया, और अपने चपरासी के साथ वार्डर और उसके साथी को थियेटर में भेजकर ठीक स्थान पर बिठला दिया । वार्डर तो मानो बहिश्त में पहुंच गया । कहां चवन्नी के धक्के और कहां गद्दों पर बैठ कर सिगरेट का धुंआ उड़ाना और बिल्कुल पास से ऐक्ट्रेसों को देखना । अगले दिन जब वह ड्यूटी पर आया तो बिल्कुल बदला हुआ आदमी था । बहुत झुक कर मुझे सलाम किया, और सैकड़ों धन्यवाद दिये । अन्त में कहा कि आपका तो बहुत बड़ा कारखाना है और शहर में बहुत बड़ा मान है । मेरे भाई की नौकरी कहीं लगवा दीजियेगा ।

वह वार्डर महीना भर चक्कियों की ड्यूटी पर रहा, शायद ही कोई दिन ऐसा गया हो जब वह शाम के समय अर्जुन कार्यालय में हमारी चिट्ठी पहुँचाने या हमारे घर से कोई चीज लाने न गया हो । और उधर हैडवार्डर साहब बिल्कुल निश्चिन्त थे कि इन मूजी कैदियों के सब रास्ते मैंने बन्द कर रखे हैं ।

(४)

एक दिन बड़ी उलझन पैदा हो गई जिसमें मैं व्यक्तिगत रूप से बुरी तरह फँस गया था। उसमें भी मेरा उद्धार सैयद साहब की सूझ ने ही किया। घटना यूं हुई। दोपहर के बारह बजे, जब अधिकारी लोग घरों को चले जाते थे तब जेल के कुछ वार्डर हम लोगों के पास बातचीत के लिए इकट्ठे हो जाते थे। वह समय मनोरञ्जन का समझा जाने लगा था। हमारे बंगाली पड़ोसी शतरंज के अच्छे खिलाड़ी थे। उधर एक सिख नम्बरदार को भी शतरंज का बहुत शौक था। हमारी चार कोठरियों में से किसी एक में प्रतिदिन बारह और दो के बीच शतरंज का अखाड़ा जमने लगा। उस दिन अखाड़ा मेरी कोठरी में जम रहा था। क्या देखते हैं कि शहर के एक मजिस्ट्रेट हैड वार्डर के पीछे पीछे मेरी कोठरी के सामने आकर खड़े हो गये। उनके पीछे भागकर आते हुए जेलर और एसिस्टैंट जेलर भी दिखाई दे रहे थे। सब लक्षणों से प्रतीत होता था कि मजिस्ट्रेट का यह दौरा खास इसी उद्देश्य से कराया गया था कि हम लोगों को जेल मैनुअल के चक्कर में फँसाया जाय। मजिस्ट्रेट ने मेरे कमरे के सामने आकर पूछताछ करनी शुरू कर दी। इस कोठरी में कौन रहता है? क्या हो रहा है? क्या यह कैदियों के खुले रहने का समय है? इत्यादि प्रश्न पूछे गये और उनके उत्तर मजिस्ट्रेट की डायरी में नोट कराये गये। काफला चला गया तो हम लोग परामर्श के लिए बैठे। सैयद साहब ने निम्नलिखित आशय का एक वक्तव्य अपनी चुस्त उर्दू में दिया :—

आप लोग इन मामलों में बिल्कुल नये हैं। आप से यह परिस्थिति न संभाली जायगी। आप परामर्श छोड़कर मेरी बात मानें। आप की कोठरी में जितनी भी ऐसी चीजें हैं, जिन पर आपत्ति की जा सके, आप वह मुझे दे दीजिए। मैं इन मूज़ियों से निबट

लूंगा।

सैयद साहब की प्रतिभा और सूझ पर हमारा विश्वास न जम चुका होता तो हम उनके प्रस्ताव को स्वीकार न करते, पर अब तक की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया था कि वह जेल के नहले पर दहला हैं। इस कारण उनकी सलाह एकदम मान ली और मेरे पास किताब, कपड़ा और खाने का जो भी ऐसा सामान था जिस पर जेलवाले आपत्ति उठा सकते थे, सब सैयद साहब की कोठरी में पहुँचा दिया। शतरंज तो एकदम ही नम्बरदारों द्वारा जेल से बाहर पहुंचा दिया गया था।

मजिस्ट्रेट को गये अभी दस मिनट भी न गुजरे होंगे कि तलाशी का परवाना लेकर एक असिस्टैंट जेलर हैड वार्डर अन्य कई वार्डरों के साथ मेरी कोठरी पर आ धमके। मैं उनके स्वागत के लिए कोठरी के बाहर पहले ही से तय्यार खड़ा था। असिस्टैंट जेलर ने बड़ी शान से कहा—'प्रोफेसर साहब, आप की तलाशी का हुक्म है।'

मैंने लापरवाही से उत्तर दिया—'दिखाइये' हुक्म को पढ़ कर मैंने आंख के इशारे से उन्हें कोठरी की तलाशी लेने की अनुमति दे दी। बेचारों ने बड़ी मेहनत की। एक-एक कपड़ा झाड़ कर देख लिया—कोने की मिट्टी तक कुरेद डाली, परन्तु शतरंज न मिला और न कोई और ही आपत्तिजनक चीज हाथ लगी। तब तो खिसियाने होकर मेरे पास आये और पूछने लगे कि शतरंज कहां है? मैंने उत्तर दिया—यह जानना आपका काम है, मेरा नहीं। एक मजे की बात यह थी कि जिस समय मजिस्ट्रेट साहब जेल के अन्दर घुसे थे उस समय मैं एक मुलाकात के सिलसिले में दरवाजे पर ही था। व्यक्तिगत रूप से मेरी सफाई के लिए यह काफी था। इस तरह निराश होकर हैड वार्डर ने पैंतरा बदला, उसने असिस्टैंट जेलर से कहा कि साथ की

कोठरी की तलाशी लीजिये। मालूम हुआ है कि सामान उसमें रखा गया है। असिस्टेंट जेलर इस सलाह को मानकर सैयद साहब के दरवाजे पर पहुंचा तो देखा कि सैयद साहब कम्बल पर लेटे हुए किताब पढ़ने में दत्तचित्त हैं। सैयद साहब ने सब सामान फर्श पर रख कर उस पर चटाई डाल ली थी और उस पर कम्बल डालकर आराम से लेट गये थे। उस समय असिस्टैन्ट जेलर से उनकी जो बात चीत हुई, वह उन्हीं का हिस्सा थी। अपनी याददाश्त से मैं उसका आशय नीचे लिखता हूँ।

असिस्टन्ट जेलर—

'सैयद साहब, जरा बाहर तशरीफ लाइये। मैं आपकी कोठरी की तलाशी लूंगा।'

सैयद साहब—(लेटे ही लेटे) क्या आपके पास मेरी तलाशी का कोई कानूनी वारन्ट है?

'जी, उसकी जरूरत नहीं। मैं खुद वारन्ट हूँ। आप बाहर आ जाइये।'

'कानूनी वारन्ट के बगैर आपकी बात का कौड़ी भर भी दाम नहीं है। आप मेरी तलाशी नहीं ले सकेंगे।'

'आपको तलाशी देनी पड़ेगी। आप खुद न उठेंगे तो मेरे आदमी आपको उठा देंगे।'

'आप और आपके आदमी अगर मुझे हाथ लगायंगे तो यहां लाशें बिछ जायंगी। आप सीधी तरह यहां से चले जाइए नहीं तो अच्छा नहीं होगा।'

इतना कह कर सैयद साहब ने मुंह दूसरी तरफ कर लिया। इस ठण्डे दिमाग और हिमाकत के सामने जेल की फौज को हार माननी पड़ी। हारे हुओं के अन्तिम हथियार 'देख लेंगे, मजा चखा देंगे' इत्यादि प्रसिद्ध वाक्यों द्वारा अपनी झेंप को मिटाते हुये असिस्टेन्ट जेलर साहब दल-बल सहित ड्योढ़ी की ओर रवाना हो गए। उनके जाने पर

मैंने सैयद साहब से पूछा कि भाई! तुम्हारी एक बात समझ में नहीं आई। अगर वह तुम्हें हाथ लगाते तो लाशें कैसे गिर जातीं। तुम्हारे पास ऐसा कौन सा तोपखाना था। सैयद साहब ने उत्तर दिया कि यह गीदड़ और किसी जुबान को समझते ही नहीं। गीदड़ लाठी से डरता है और किसी चीज से नहीं। फिर चाहे वह लाठी कागज की ही हो।

(५)

इस तरह जेल के अधिकारियों और जेल के पुराने पखेरुओं की कृपा से पहले महीने में हमें जेल जीवन की प्रारम्भिक दीक्षा प्राप्त होती होती रही। यदि उस समय दिल्ली की जेल इतनी गन्दी न होती और वहां का खाना ऐसा बदबूदार और रद्दी न होता तो शायद हमें अपने जेल के मित्रों की विशेष सहायता न लेनी पड़ती। परन्तु मैंने जेल में जाकर देखा कि वहां का मानसिक और भौतिक दोनों तरह का वातावरण बिल्कुल गन्दा था। अब्दुलरशीद के जनाजे के समय जो दङ्गा हुआ था, उसके १०० सौ से अधिक अपराधी अभी जेल में थे। उन पर हत्या और दङ्गे के मुकदमे चल रहे थे। जेल के अधिकारियों की मानसिक दशा यह थी कि उन पेशीवाले कैदियों को शाही महमानों की तरह रखा जाता था। उनके खान पान और मुलाकातों पर कोई विशेष प्रबन्ध न था। इधर साधारण कैदियों के लिए जो भोजन बनता था, उसे खाना तो अलग, देखना और सूंघना भी उद्वेगकारी प्रतीत होता था। देखें तो मक्खियों की भरमार और सूंघें तो घोर दुर्गन्ध। खा के बीमार हों या भूखे रहें, हमारे सामने यही समस्या थी। इस समस्या को हल करने के लिए जो उद्योग करना पड़ा उसने हमें बहुत सी शिक्षा दी। इस सिलसिले में जेल के अधिकारियों और कैदियों के सम्बन्ध में जो अनुभव हुए उनसे मैंने यह ज्ञान प्राप्त किया कि जिन्हें कानून निर्दोष समझता है और कानून की रक्षा का बोझ जिनके कन्धे पर डालता है वह कितने कमीने और अपराधी मनोवृत्ति के व्यक्ति हो सकते हैं। साथ

ही जिन्हें कानून अपराधी करार दे कर जेल में डाल देता है, उनमें मनुष्यता का और सहृदयता का ऊंचा भाव विद्यमान हो सकता है। यहीं पर मैंने इस सचाई को भी अनुभव किया कि हमारे आजकल के जेल अपराधों को रोकने या कम करने के साधन नहीं हैं, प्रत्युत अपराधों की शिक्षा देने के शिक्षणालय हैं। मेरे मन में उन अनुभवों को लेखबद्ध करने का जो विचार उस समय उत्पन्न हुआ था, वही 'मेरे अपराधी कौन ?' नामक उपन्यास के रूप में प्रकट हुआ। इस उपन्यास की मौलिक कल्पना मैंने जेल में ही कर ली थी।

मैं दिल्ली जेल में लगभग सवा महीने तक रहा। उस समय इस जेल का जो समूहरूपी असर मेरे मन पर पड़ा वह मेरे उस वर्णन से विदित हो सकता है जो मैंने जेल से आने पर कलकत्ते की 'अमृत बाजार पत्रिका' में किया था। मैंने अङ्गरेजी में दिल्ली जेल को (Varitable hell) इस विशेषण से विशेषित किया था। वस्तुतः वह बीसवीं शताब्दि का घोर नरक था।

फीरोजपुर जेल

(१)

इस प्रकार, जेल जीवन के प्रारम्भिक पाठ पढ़ते हुए, दिल्ली जेल में हमने सवा महीना गुजार दिया। कुछ दिन पहले मेरा परिवार मिलाई के लिये आया था। उस समय बात-बात में चर्चा उठी कि बसन्त पचमी का त्यौहार आने वाला है। आपस में निश्चय किया गया कि पंचमी के दिन परिवार मिलने के लिये आये और बसन्ती हलवा खाने को और बसन्ती कपड़ा पहिनने के लिये लाये। जिस दिन की मैं बात सुना रहा हूँ, वह चतुर्थी का दिन था। अगले दिन बसंत पंचमी का त्यौहार होगा और मुलाकात होगी, इसी विषय पर आशाभरी बातें हो रही थी, कि दोपहर के बारह बजे महन्त जी भागे हुए आए और खबर दी कि आपके दूसरी जेल में तबादले की आज्ञा आ गई है, अभी जेलर आता होगा, तैयारी कर लीजिये। तैयारी का अभिप्राय यह था कि जो सामान साथ नहीं ले जाया जा सकता था या जिस पर कोई

आपत्ति उठाई जा सकती थी वह ठिकाने लगा दिया जाय। सूचना देकर महन्तजी फौरन वहां से हट गये। तैयारी के लिये हमें कठिनाई से पांच मिनट मिलें होगे। परन्तु वहां पांच मिनट भी काफी थे। जब तबादले का हुक्म लेकर असिसटेन्ट जेलर हमारे यहां आया, तब हम आवश्यक तैयारी से निबट कर चटाइयों पर बैठे हुए थे। नायब दारोगा ने तबादले की आज्ञा हमें ऐसी अदा से सुनाई मानों हम पर अकस्मात् वज्र-प्रहार किया हो। हमने भी अत्यन्त आश्चर्य प्रकट करते हुए उनके भ्रम को कायम ही रक्खा। हमें अपना सामान लपेटने के लिये कठिनाई से १० मिनट दिये गये। इसी बीच में यह ध्यान रखा गया कि जेल का कोई कैदी हम से मिलने न पाये। यहां तक कि हमारे पड़ोसियों और महन्त जी को भी दूर-दूर रखा गया। यह सब सावधानतायें इस लिये की गई थीं कि कहीं हमारे परिवार को और वहां से नगरवासियों को यह समाचार मिल न जाए कि हम स्टेशन जा रहे हैं। हमें भी उस समय सबसे बड़ी चिन्ता यही थी कि बिचारे परिवार के सब लोग जब यह समाचार पायंगे कि हम लोग चुपचाप बाहर भेज दिये गये तो उन्हें कितनी निराशा होगी।

ड्योढ़ी तक पहुंचने पर हमें मालूम हुआ कि हमारे हाथों और पांवों में हथकड़ी और बेड़ी पहनाई जाएंगी। पहले तो दिल में आया कि इस मामले पर लड़ाई लड़ी जाए, परन्तु फिर सोचा कि ऐसा करना बहुत बड़ी भूल होगी! जेल का अनुभव अपूर्ण रह जायगा, यदि हथकड़ी बेड़ी पहन कर सफर न किया गया। बेड़ियों की जिस झंकार को बचपन से राष्ट्रीय गीतों में सुनते आये हैं अवसर आने पर उनकी ओर से कान बन्द कर लेना केवल मूर्खता का ही नहीं, दुर्भाग्य का भी सूचक होगा। लुहार आया और हथकड़ी बेड़ी पहना कर चला गया। अब तक याद है कि मैं उस समय आत्मसंतोष से मुस्कराता रहा।

इस प्रकार कारागार के गहनों से सजकर हम स्टेशन के लिए

रवाना हुए। सवा महीने के पश्चात् दिल्ली दरवाजा, लाल किला और स्टेशन को पूर्ववत् खड़ा देखकर मन में मानों संतोष हुआ कि हमारे न देखने पर भी दुनिया वैसी की वैसी चल रही है। पुलिस वाले हमें स्टेशन तक बड़ी सावधानता से ले गये। ऐसे रास्तों से ले गये कि कोई जान पहचान वाला न मिले। प्लेटफार्म पर ले जाने के लिए भी ऐसा रास्ता चुना गया, जो आम रास्ता नहीं था। प्लेटफार्म पर पहुँच कर पुलिस को निराशा का मुंह देखना पड़ा। बहुत से ऐसे लोग मिल गये जिन्होंने मुझे पहचान लिया और पूछ भी लिया कि आप कहां जा रहे हैं। मुझे मालूम हो चुका था कि हमें फीरोजपुर जेल भेजा जा रहा है। मैंने बतला दिया, इस पर हमारे साथ के दारोगा ने आंखें तो बहुत चढ़ाईं, पर कुछ कर न सका।

शाम के पांच बजे के लगभग भटिण्डा के रास्ते से जो गाड़ी लाहौर को जाती थी, उसके तीसरे दरजे के एक खाली डिब्बे में पुलिस हमे लेकर बैठ गई। हमारे हाथ पैर बंधे हुए थे, डिब्बा खाली था। इन कारणों से निश्चिन्त होकर दारोगा साहब और शेष सिपाही प्लेट-फार्म पर चहल कदमी करते-करते दूर निकल गये। केवल वह दो तीन सिपाही हमारे पास रह गये जिनकी हाथों में हमारी नकेल अर्थात् जंजीर पकड़ी हुई थी। इतने में हम क्या देखते हैं कि मेरा परिवार—पत्नी, बच्चे, पं० धर्मपालजी, लाला दशबन्धु गुप्त और अन्य बहुत से बन्धु-बान्धव खाने-पीने का बहुत-सा सामान लिये भागे चले आ रहे हैं। वह आये तो डिब्बे का दरवाजा खोल कर बेरोक-टोक अन्दर आ गये। हम अकस्मात् जा रहे थे, फिर भी उन लोगों को खबर लग गई, इस बात से मिलने वालों की आंखों में आंसू थे और होठो पर मुस्कराहट। हमें आश्चर्य यह हुआ कि घर वालों को न केवल हमारे तबादले का, अपि तु हमारी गाड़ी का भी पता कैसे चल गया। बात यूं हुई। हमारे तबादले की सूचना मिलते ही हमारे जेल के सब से बड़े बन्धु महन्तजी को फिक्र पड़ी कि किसी तरह यह समाचार अर्जुन कार्यालय को भेजा

जाय। टेलीफून उस समय जेलर की मेज पर रखा हुआ था और जेलर साहब डटे हुए थे। जब हम लोगों के हथकड़ी बेड़ी पहनने का प्रश्न उठा तो दारोगा को थोड़ी देर के लिये अपने कमरे से बाहर जाना पड़ा, इसी अवसर से लाभ उठा कर महन्तजी ने हमारे घर पर हमारे तबादले की सूचना दे दी। यह सूचना घरवालों के लिये तो सर्वथा अनभ्रवृष्टि (बिना बादलों की वर्षा) के समान ही थी। बसन्त पंचमी के दिन की मुलाकात की तैयारी लगभग पूरी हो चुकी थी। चिट्ठी लिखकर मंजूरी भी मंगाई जा चुकी थी। ऐसे समय स्थान परिवर्तन के समाचार का मन पर जो असर हुआ होगा पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में वही वर्णन किया जा सकता है :

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्, भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे, हा हन्त ! हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

अस्तु। हमारे तबादले का समाचार तो मिल गया परन्तु गाड़ी का पता न चला। यह कार्य उस सज्जन ने पूरा किया, जिसने मुझे प्लेटफार्म पर पहचान लिया था। उसने टेलीफोन द्वारा हमारे प्लेटफार्म नम्बर आदि की पूरी सूचना घरवालों को दे दी। हमारे यत्न धरे रह जाते हैं और भवितव्यता इस प्रकार पूरी हो जाती है।

दारोगा को जब मालूम हुआ कि हमारे डिब्बे में मिलने वाले आ पहुंचे तो भागा हुआ आया और पहले तो कुछ देर तक पुलिस वालों की धौंसपट्टी जमाने का यत्न करता रहा, परन्तु जब उसने जान लिया कि यह लोग टलनेवाले नहीं हैं और उसे यह भी निश्चय हो गया कि भोजन का जो बहुत सा सामान डिब्बे में आ गया है, उसका अधिकांश हिस्सा पुलिसवालों के ही काम आयगा तो वह शान्त हो गया और उसने मेरे घर वालों के आंसू पोछने के लिये, यह वायदा भी कर लिया कि जब गाड़ी चल पड़ेगी तब हाथों की हथकड़ी खोल दी जायगी।

(२)

दूसरे दिन प्रातःकाल अन्धेरे में ही गाड़ी फीरोजपुर पहुंच गई। उतरने से पहले दरोगा ने यह कहते हुए मेरे दूसरे हाथ में भी हथकड़ी पहना दी कि बाबूजी, अब तो अफसरों के सामने जाना होगा, इसलिये थोड़ी देर की तकलीफ और उठा लीजिये। घर वालों ने हमारे साथ फल, मिठाई, सोहन हलुआ आदि जो कुछ भी रखा था, वह सब हमने पुलिसदेवता के अर्पण कर दिया था। रेल में हम कुछ भी नहीं खा सके। इससे देवता प्रसन्न हो गये और कम से कम मुंह से कड़वी बात कहना बन्द कर दिया। स्टेशन पर पुलिस की गाड़ी आई हुई थी, उसमें बन्द होकर पौ फटने से पहले ही जेल के दरवाजे में जा पहुंचे।

वहां दरोगा साहब के दर्शन हुए। यह दारोगा साहब जेल के हल्कों में 'महाशयजी' कहलाते थे। सारे पंजाब में यह एक ही महाशयजी थे, अर्थात् वही एक जेल दारोगा थे जो कभी रिश्वत नहीं लेते थे, जेल के स्वामी होते हुए भी न रायसाहब बने और न अमीर ही हो सके। उनके लड़के गुरुकुल में शिक्षा पाते थे और घर में शायद प्रतिदिन हवन भी होता था। जेलवालों की परिभाषा में ऐसा अधिकारी 'महाशय' अर्थात् बुद्धू समझा जाता है। मेरे अनुभव ने बतलाया कि जेलवालों की समझ गलत थी। महाशय जी काफी चतुर शासक थे। ड्योढ़ी में पहली बार मिलने पर वह हम दोनों को कुछ अलग ले गये। हम लोगों की हथकड़ी बेड़ी को देखकर वह सचमुच दुःखित थे। उन्होंने जो कुछ कहा उसका अभिप्राय यह था कि "आप लोग इस जेल में आये हैं, यह मेरे लिये अड़चन की बात भी है और सन्तोष की भी। अड़चन तो यह है कि मेरी सर्विस समाप्ति के करीब पहुंच चुकी है, मुझे बहुत सम्हल कर चलना होगा। सन्तोष यह है कि मुझे कानून के अन्दर रहते हुए आप लोगों की सेवा करने का मौका मिलेगा। आशा है, आप मेरी लाचारी का भी ध्यान रखेंगे।" महाशयजी का नाम मैं पहले ही सुना

चुका था। उसमें थोड़ी सी अपनावट भी पैदा हो चुकी थी। मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि 'हमारी ओर से ऐसा कोई काम न होगा, जिससे आपकी सर्विस खतरे में पड़े। हम यथासम्भव जेल के नियमों का पालन करेंगे।' इस प्रकार फीरोजपुर के जेल में हम इस संकल्प के साथ प्रविष्ट हुए कि पांच साल की लम्बी कैद जेल मैनुअल की बनाई हुई पटरी पर चलकर गुजारेंगे। हमारी हथकड़ी बेड़ी उतार दी गई और ड्योढ़ी में घुसते ही चक्कियों की जो लाइन थी, उसमें—जहां तक याद है—४-५ नम्बर की कोठरियां हमें दे दी गईं।

इन कोठरियों में हमारा जाब्ते का जेल जीवन घड़ी की सुइयों की सी नियमबद्धता के साथ चलने लगा। लगभग चार मास इस प्रतीक्षा में गुजर गये कि मुकद्दमे की अपील का परिणाम मालूम हो जाय। लगभग तीन महीने में सैशन की अपील का फैसला हुआ। पांच साल से अधिक की सजा कम होकर छः महीने की रह गई। दिल्ली की सरकार ने इस कमी के विरुद्ध हाईकोर्ट में अपील की। हाईकोर्ट ने सैशन जज के फैसले को ही बहाल रखा, मेरी सजा न घटाई और न बढ़ाई। इस कानूनी लड़ाई में जिन महानुभावों ने मेरी ओर से बहस की उनमें से डाक्टर जयकर और रायबहादुर मोतीसागर के नाम प्रमुख हैं। यदि ऐसे योग्य महानुभाव अपनी इच्छा से मेरी वकालत न करते तो शायद मेरी सजा में ५⁄६ की कमी न हो सकती।

मैं उन दिनों 'मुगल साम्राज्य के क्षय और उसके कारणों का इतिहास' लिख रहा था। जेल अधिकारियों ने मुझे यह काम करने की आज्ञा दे दी। स्वास्थ्य अच्छा था, पचाने की शक्ति अक्षुण्ण रूप में विद्यमान थी और महाशयजी को यह आश्वासन दे रखा था कि कोई ऐसा काम न करेंगे, जिससे उन पर खतरा आये। दिन भर पढ़ना लिखना जेल के बने हुए भोजन और भुने हुए चनों के नाश्ते से सन्तुष्ट रहना और रात को कोठरी में बन्द होकर सो जाना—यह हमारी

दिनचर्या थी। तीन मास तक तो दोनो वहां रहे, उसके पश्चात् सम्पादक को रिहाई मिल गई क्योंकि सेशन जज ने उनकी भुगती हुई सजा ही काफी समझा। सम्पादक के मुक्त हो जाने पर मैं अकेला ही किताबों के बस्ते की सहायता से जेल की रूखी यात्रा करता रहा।

इन चार महीनो में मैंने बहुत कुछ सीखा और किया। अपराध और जेल के मनोविज्ञान का जितना अध्ययन मैंने इस समय में किया, वह दूसरे किसी समय में नहीं कर सका। फीरोजपुर का इलाका सिपाहियों और डाकुओं का इलाका है। वहां लम्बे-चौड़े और सुलभ अन्न-दूध से पले हुए किसान धूमधाम से जीना और बेफिक्री से मरना जानते हैं। इस जेल ने मुझे वस्तुतः जीवित मनुष्यों को देखने का अवसर दिया। उनके इतिहास सुने और विचारों का जो अध्ययन किया, वह मेरे लिये सैकड़ों पुस्तकों से अधिक ज्ञानवर्धक अनुभव था। इन महीनो में मैंने किया यह कि मुगल साम्राज्य विषयक पुस्तक लगभग समाप्त कर ली। यदि मुझे यह खाली चार मास न मिलते तो पुस्तक शायद चार वर्षों में भी समाप्त न होती।

यह था फीरोजपुर जेल का उज्ज्वल पहलू। अब काला पहलू देखिये।

(३)

पंजाब के मालवा और माझा नाम के प्रदेश अपने शारीरिक बल और जोश के लिये प्रसिद्ध हैं। पंजाब का वह पुराना कौमी गीत अब लोग भूल गये हैं, जिसका आरम्भ 'पगड़ी सम्भाल ओ जट्टा' इस पद से होता था। उसके अन्तरा का निम्न लिखित पद इन्ही दो प्रदेशों पर अभिमान प्रकट करता था।

माझे दे जोर नाल, मालवे दे शोर नाल, कदी नइयों हारना।

फिरोजपुर भी पंजाब के इसी जोरदार प्रदेश का हिस्सा है। सारे भारत भर से अंग्रेजी सरकार जितने सिपाहियों की भरती करती थी

उवका लगभग आधा हिस्सा पंजाब से लिया जाता था और उस में से कम से कम एक चौथाई हिस्सा उस इलाके से भरती होता है, जिसका केन्द्र फीरोजपुर है। गुरु गोविन्दसिंह ने जिन 'चिड़ियों' से 'बाज' को परास्त किया था और अंग्रेजी सरकार जिनके भरोसे पर दुनियां को ललकारने की हिम्मत रखती थी, उन सिपाहियों की जन्म देने वाली भूमि इन्हीं इलाकों में हैं।

यदि आप किसी इलाके की मानवी विशेषताओं को परखना चाहें तो उसके केन्द्र में बने हुए जेल का अध्ययन कीजिये। वहां आपको मनुष्य-प्रकृति का काला रूप अपने अकृत्रिम ढंग पर दिखाई देगा। दिल्ली जेल में हमने पूछ ताछ कर देखा तो प्रतीत हुआ कि जेल में आये हुए अपराधिओं में से अधिकतम दीवानी मुकदमों में आये हुए या चार सौ बीस के अपराधी हैं या गठकतरे अथवा चोर हैं। फौजदारी के अभियुक्त दिल्ली जेल में तभी आते हैं जब कोई सार्वजनिक हलचल उत्पन्न की जाय। स्वभाव से दिल्ली का वातावरण मारकाट के विरुद्ध है।

फीरोजपुर के जेल में हमें इससे बिल्कुल विपरीत दशा दिखाई दी। वहां दीवानी मामलों के अभियुक्त बिरले ही आते थे। यदि मैं यह कहूं कि वहां के नब्बे फीसदी अभुयुक्त डकैती हत्या या दंगे फिसाद के मामलों में अभियुक्त बना कर लाये जाते थे, तो अत्युक्ति न होगी। हमारी बारग का पीली वरदी वाला नम्बरदार अकबरखां डकैती और हत्या के अपराध में जन्म कैद भोग रहा था। हमारा मुशक़ती लगभग सत्तर साल का बुड्ढा था। वह बाजारू झगड़े में छुरे से एक आदमी को मारने के अपराध में जेल आया था। मेरी कोठरी के दांयी ओर एक मशहूर डाकू रखा गया था। जब पहले दिन कोठरी खुलने पर वह बाहर निकल कर आया, तो उसे सब लोग आश्चर्य से देखने लगे। वह कोई छः फुट से दो इंच

ऊंचा लगभग तीन मन का खूब हृष्ट पुष्ट, जवान था। उसके हाथ में माला थी और होठों पर 'वाह गुरु वाह गुरु' के शब्द। हम लोगों के पूछने पर उसने उत्तर दिया कि भला मेरा जेल से क्या वास्ता? मैं तो खेती करता और वाह गुरु का जाप करता था, मुझे पुलिस वाले यूं ही पकड़ लाये। उसकी शकल सूरत से डाकू होने की सम्भावना हो सकती थी, परन्तु उसकी माला और होठों को देखकर यह भान होने लगता था कि पुलिसवालों ने उसका दुश्मनी से चालान नहीं किया तो कोई भूल अवश्य की है। दोपहर के समय जब सुपरिन्टेन्डेन्ट जेल के निरीक्षण के लिये आया और उसने पूछा कि 'क्या तुम्हें कुछ चाहिये?' तो उस जवान ने उत्तर दिया:— 'साहब और क्या चाहिये, बस ग्रन्थसाहब की किताब मंगा दो। उसके जाप से जेल के दिन कट जायंगे।'

यह थीं पहले दिन की बातें। लगभग एक सप्ताह में हम लोगों से उसकी बेतकल्लुफी हो गयी। तब उसने डकैतियों और हत्याओं के रोमाञ्चकारी वर्णन बड़े गौरव के साथ सुनाने आरम्भ कर दिये। जो घटनायें वह सुनाता था उनमें वीरता के साथ नृशंसता और नीचता का काफी मिश्रण रहता था। उसका दूसरा साथी बीकानेर का एक राजपूत था। वह कम समझदार और अधिक क्रूर था। वह जब अपनी क्रूरता की कहानियां सुनाता था, तो गर्व से छाती ठोकता और हंसता था। वह मनुष्य-प्रकृति का बीभत्सतम रूप था। कुछ दिनों तक तो हम समझते रहे कि वह सरदार अपने कारनामे सुनाने में बहुत अत्युक्ति से काम लेता है, परन्तु एक दिन हमें उसका 'कारनामा' आंखों से देखने का अवसर मिल गया। तब हमारी समझ में आ गया कि उसके माला वाले हाथ और वाह गुरु वाले होठों के पीछे बहुत कुछ छुपा हुआ है।

बात यूं हुई। पंजाब के जेलों में पठान और सिक्ख कैदियों की प्रतिस्पर्धा परम्परा से चली आयी थी। वस्तुतः वह प्रांत की साम्प्रदायिक

दशा का एक छोटा सा नमूना था और अंग्रेजी सरकार इन दो लड़ाकू जातियों के परस्पर विरोध से पूरा लाभ उठाती थी। जहां सिक्ख कैदी अधिक हों वहां पठान नम्बरदार रखा जाता था और जहां पठान कैदी अधिक हों वहा सिक्ख नम्बरदार रखा जाता था—इसी तरह भारत का साम्राज्य चलता रहा और इसी तरह पंजाब की जेलें। अकबरखां जुबान का जरा कड़वा था, सिक्ख कैदी उससे बहुत जलते थे, अब तक वह चुप थे, परन्तु इस नये मशहूर अभियुक्त के आने पर सिक्ख कैदियो ने निश्चय किया कि पठान नम्बरदार को सजा दी जाय। सजा देने का काम भी हमारे पड़ौसी ने अपने ऊपर ही लिया। सुबह जब नम्बरदार ने हाथ मुंह धोने और हवा खाने के लिये उसे खोला और खोलकर दूसरी कोठरी की ओर जाने के लिये मुंह फेरा तो सरदार ने अपनी पगड़ी सिर पर से उतार कर ऐसे ढंग से फैंकी कि नम्बरदार के गले में फंदा पड़ गया। सरदार ने फंदे के जोर से नम्बरदार को अपनी कोठरी के घेरे में खेंच लिया और उसकी छाती पर चढ़ कर गला दबा दिया। तीन मन का बोझ ही बहुत था, उस पर गला दबाया गया तो नम्बरदार तत्काल बेहोश हो गया, और शायद थोड़ी ही देर में मर भी जाता, यदि एक पहरेदार सिपाही उधर न आ निकलता। उसने बाहर से झांक कर देखा तो वह भागा हुआ ड्योढ़ी में गया और एलार्म का घंटा बजा दिया। थोड़ी ही देर में सरदार की कोठरी के सामने जेल के बाबुओं, सिपाहियों और नम्बरदारों की भीड़ लग गई पर अश्चर्य की बात यह देखी कि अन्दर जाकर अकबरखां को छुड़ाने की हिम्मत किसी की न पड़ी। सब उस प्रसिद्ध डाकू के पास जाते डरते थे। उसकी भूखे बाघ की सी हुंकारें दूर तक सुनाई दे रही थीं। उस समय जेल के बूढ़े दरोगा ने हिम्मत दिखाई। वह अकेले आगे बढ़ गये और झपट कर सरदार के केशों को पकड़ लिया और दोनों हाथों से उन्हें खेंचते हुए सरदार को कोठरी के दरवाजे से बाहर ले आये। सब तो बहुत

से बहादुर निकल आये। जमादार लाठियों से और नंबरदार कमर की पेटियों से सरदार पर चारों ओर से वार करने लगे। लगभग १० मिनट की खैंचा-तानी के बाद सरदार को रस्सियों से बांधा जा सका।

(४)

एक दिन प्रातःकाल जब मैं कोठरी का ताला खुलने पर बाहर आया तो क्या देखता हूं कि ड्योढ़ी के अन्दर के दरवाजे के सामने खुले सहन में लगभग सौ नये कैदी बैठे हुए हैं। सब के कपड़े उजले जमींदारी ढंग के थे। उसमें से कोई भी ऐसा नहीं मालूम होता था जिसे पेशे से अपराधी कहा जा सके। उनमें बुड्ढे भी थे और लड़के भी। कइयों के मुंह पर तो दाढ़ी मूंछ के बाल भी अभी पूरी तरह नहीं आये थे। पूछने पर मालूम हुआ कि सब एक ही गांव के हैं। बात ही बात में दो आदमियों की तकरार हो गई। जिस पर दोनों के मददगार लाठियों और गडासों से लैस होकर भिड़ गये। दर्जनों घायल हुए। जिनमें से २-३ मर भी गये। पुलिस ने गांव के प्रायः सभी बालिग मर्दों को पकड़ लिया है। हमारे यह आश्चर्य प्रकट करने पर कि इतनी छोटी उम्र के जवान जेल में क्यों आ गये एक बुजुर्ग ने उत्तर दिया-'बाबूजी, ए गुरद्वारेच मत्था टेकन आये हैं' अर्थात् यह लोग गुरुद्वारे को माथा टेकने आये हैं। इन इलाकों में जब-तक कोई नौजवान फौजदारी में जेल की यात्रा न करले तब-तक समझा जाता है कि वह असंस्कृत है, पूरी तरह मर्द कहलाने के लायक नहीं है। सब प्रसन्न और अपने काम से सन्तुष्ट नजर आते थे।

एक अराईं (मुसलमान जमींदार) परिवार हमारे सामने ही दो बार जेल में आया। परिवार से यहां मेरा अभिप्राय पिता और उसके चार पुत्रों से है। सभी कम से कम ढाई-ढाई मन के होंगे। खूब सुन्दर डीलडौल के, साफ रंग के पले हुए शरीर वाले। उनसे प्रायः बातचीत होती थी। पूछने पर विदित हुआ कि उनकी खासी बड़ी

जमींदारी है । कई सौ भैंसें हैं और गांव में पक्का मकान भी है । परिवार के बुजुर्ग से मैंने पूछा कि आप लोगों के यहां इतनी लड़ाइयां क्यों होती हैं ? उसने बिलकुल गांव के सादे ढंग पर जो व्याख्या की वह बहुत मनोरंजक थी । उसने कहा कि हम लोगों के पास खाने पीने की कमी नहीं, पेटभर कर खाते और भैंस का दूध पीते हैं । जब-तक फसल का काम रहता है तब-तक तो हमें लड़ाई-झगड़े की फुरसत नहीं रहती जब फुरसत के दिन आते हैं और अन्दर का खून जोर मारता है तब सिवा लड़ने के और काम ही क्या है ? एक ने दूसरे को कोई ताना दिया या मजाक किया, इसी पर गाली-गलौच हो जाता है । सर्दियों में रात को घर के बाहर आग जलाकर हाथ तापने के लिये बैठते हैं और गर्म होने के लिये शराब पीते हैं । उस वक्त अगर किसी ने आकर किसी गाली या ताने की खबर सुनादी तो एकदम जोश आ जाता है और हम लोग 'डांगें और छुवियें' लेकर हमले के लिये निकल पड़ते हैं । अगर ऐसा न हो तो हमारे खून की गर्मी कम न हो ।

उन्हीं दिनों एक अभियुक्त आया जिसपर डकैती और कत्ल के बारह मुकद्दमें चल रहे थे । उनमें से कुछ मुकद्दमों में उसपर सब मिलाकर कोई चौबीस साल के कारागार का दण्ड मिल चुका था । कुछ मामले छोटी अदालत में थे, कुछ सेशन में थे और दो-तीन की अपील हाईकोर्ट में चल रही थी । उसे किसी ने बतला दिया कि मैं जालन्धर के मशहूर फौजदारी के बैरिस्टर रायजादा भगतराम का भानजा हूं । मामाजी के बारे में यह मशहूर था कि वह अभियुक्तों को फांसी के तख्ते पर से छुड़ा लाने में बहुत सिद्धहस्त थे । रिवायत थी कि जब कोई आदमी गंडासा लेकर दूसरे को मारने के लिये घर से निकलता और उसे दूसरा आदमी यह कहकर रोकता कि 'अरे, कत्ल करेगा तो फांसी पर चढ़ेगा ।' तो वह उत्तर देता था कि अभी भगतराम

जिन्दा है, कोई डर नहीं। वह डाके का अभियुक्त मेरे पास यह प्रस्ताव लेकर आया कि मै मामा जी से उसकी सिफारिश करूं ताकि वह अपील में उससे कम फीस ले लें। इसी प्रसंग में उससे बहुत सी बातें हुईं। बातचीत में उसने माना कि उसकी पार्टी ने एक-एक रात में तीन-तीन चार-चार स्थानों पर डाके डाले हैं। मैंने उससे पूछा कि यह कैसे सम्भव है? तो उसने बतलाया कि हम लोग घोड़ो पर चढ़कर डाका डालते हैं। रात के बारह बजे एक जगह डाका डाला, दो बजे दूसरी जगह और चार बजे तीसरी जगह, इसमें क्या मुशकिल है? मेरे यह पूछने पर कि ऐसा करने से आप लोगों को क्या लाभ है? उसने उत्तर दिया कि 'यही तो एक युक्ति हैं जिससे हम सजा से बच सकते हैं।' अपनी युक्ति को समझाने के लिए उसने बतलाया कि मान लीजिये कि हमने एक ही रात में तीन जगह डाका डाला और तीनों में हमारा चालान हो गया। जब तीनों मुकदमों में गवाहो से अलग अलग जिरह की जायेगी तो उन्हें डकैती के समय के बारे में उलझा देना और एक दूसरे की बात काट देना कुछ भी मुश्किल नहीं। मानलो कि एक मुकद्मे के गवाह ने कहा 'डाका आधी रात के समय पड़ा' हमारे वकील ने कहा कि कितने बजे थे। होंगे कोई दो बजे। गवाह उत्तर देगा शायद दो बजे हों। दूसरे मुकद्मे के गवाह ने भी यदि उसी रात के बारे में वैसा ही उत्तर दे दिया तो दोनों गवाहियां रद्द हो गईं, क्योंकि एक आदमी एक ही समय में दो जगह डाका कैसे डाल सकता है? इसी प्रकार की और भी बहुत सी युक्तियां उस अभियुक्त ने हमें बतलायीं।

एक बहरा और गूंगा अभियुक्त बहुत ही मनोरंजक था। वह शायद बारहवीं या तेहरवीं बार जेल में आया था। वह गठकतरा था। अपने अपराधों और उन पर मिले हुए दण्डों की विस्तृत कहानी सुनाने में उसे बड़ा मजा आता था। पाठक सोचेंगे कि बहरा और गूंगा विस्तृत कहानी कैसे सुना सकता है? वे विश्वास करें कि जैसी विशद रीति से अपबीती घटनाओं को वह गूंगा सुनाता था, वैसे मैंने बहुत कम

सुनी हैं। आंख, मुंह और हाथों के इशारे से वह आल्हा-ऊदल के गानों का सा समा बांध देता था। उसने अपने खास इशारे बना रखे थे। रेल का वर्णन करना हो तो दोनों हाथों को पहिये की तरह चला कर होठों से सीटी सी बजाने लगता था। यह घटना दिल्ली की है, यह सूचना देने के लिए हाथ से घण्टाघर बना देता था, बाल-बच्चों की चर्चा करनी हो तो हाथ से बच्चे को झुलाने के से इशारा कर देता था। उसे आखिरी सजा एक मेम का बटुआ उड़ाने के अपराध में मिली थी। उसका वर्णन उसने निम्न प्रकार से किया। रेल का अभिनय करके बतलाया कि घटना स्टेशन पर हुई। सिर पर हैट का इशारा करके सूचित किया कि वह साहब लोग थी और बच्चे को दूध पिलाने का इशारा करके यह बतलाया कि स्त्री थी, इसके बाद जेब कतरने का अभिनय करके अपराध की ओर कलाई पर हाथ रख कर हथकड़ी पहनने की सूचना देकर सारी घटना सुनादी।

एक अन्धा अभियुक्त भी आया था। उस पर हत्या का अभियोग था। उसकी ओर से सफाई में कहा गया था कि अन्धा होने से उसका हत्या की जगह जाना और मारना दोनों ही बातें असम्भव हैं। दूसरी ओर से कहा गया कि उसका अन्धापन असली नहीं, बनावटी है। वह इस जेल में सिविल सर्जन द्वारा अन्धेपन की परीक्षा के लिए लाया गया था। मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उसके अंधेपन की परीक्षा जेल में नहीं अपितु सिविल सर्जन साहब की कोठी पर हो रही थी। वह भी आंख देखने के औजारों से नहीं बल्कि नोटों की गड्डियों से। अभियुक्त के रिश्तेदार सिविलसर्जन की मेम के चरणों में जितने नोट चढ़ा चुके थे, वह उनसे दुगने मांग रही थी। मेरे जेल से निकलने तक सौदा' पूरा नहीं हुआ था, आशा हो रही थी कि मेम साहब के पास पूरी राशि पहुंचते ही अभियुक्त को अंधेपन का प्रमाणपत्र मिल जायगा अन्यथा आखों वाला होने का प्रमाणपत्र तो तैयार ही पड़ा है। यह सिविल सर्जन साहब पारसी थे। इनके बारे में पाठक अगले परिच्छेद में बहुत कुछ पढ़ेंगे।

सिविल सरजन

(१)

मुझे फीरोजपुर जेल के पारसी सिविल सरजन का नाम याद तो है, परन्तु मैं जान बूझ कर उसे नहीं लिख रहा हूं। उसके साथ मेरी बहुत सी अप्रिय स्मृतियें लगी हुई हैं। मैं निश्चय से नहीं कह सकता कि वह सज्जन अभी जीवित हैं या नहीं। सुना था कि वह अपनी जीवन लीला समाप्त कर गये। ऐसी दशा में उनके नाम का निर्देश न करना ही अच्छा है। उनकी विशेषतायें केवल उनकी व्यक्तिगत विशेषतायें नहीं थीं। वह उस युग के अंग्रेजी हकूमत के कल पुर्जों की सामान्य विशेषतायें थीं। इस लेख में मैं जो आपबीती सुनाऊंगा, उसका उद्देश्य नौकरशाही के एक सम्मानित पुर्जे के वास्तविक रूप को चित्रित करना ही होगा।

(२)

मैं इन संस्मरणों में अपने सम्बन्ध में कम से कम चर्चा करता रहा हूं। मुख्यरूप से इन झांकियों में मैं आपबीती की अपेक्षा आप-

देखी को ही अधिक महत्व देता रहा हूं । इस परिच्छेद में मुझे लाचार होकर आपबीती को मुख्य स्थान देना पड़ेगा । यदि ऐसा न करूं तो मेरा अभिप्राय अच्छी तरह स्पष्ट न हो सकेगा ।

मुझे जब लगभग ५ साल की सजा देकर जेल भेजा गया, तब मेरा स्वास्थ्य प्रत्यक्ष रूप में बहुत अच्छा था । शरीर भरा हुआ था, वजन दो मन के लगभग होगा, मुझे व्यायाम करने और टहलने का बचपन से ही अभ्यास रहा है । इस कारण मेरा शरीर चुस्त भी था । विशेष बात यह थी कि मेरी पाचनशक्ति बहुत अच्छी थी और प्रायः मेरे मित्र उन दिनों मुझे अच्छी सेहत का नमूना कह कर पेश किया करते थे । दिल्ली जेल में मेरी सेहत पूर्ववत् चलती रही । फीरोजपुर का जलवायु स्वभाव से ही अच्छा है । सर्दी के दिन थे, जेल का अच्छा बुरा जैसा भी खाना मिलता था, पच जाता था और सुखकारी प्रतीत होता था । जेल के दरोगा अत्यन्त सच्चे और ईमानदार व्यक्ति थे । वह मुझे या मेरे साथी के लिए भोजनसम्बन्धी कोई रियायत देना उचित नहीं समझते थे, और इधर हम लोग वचन-बद्ध थे कि कोई ऐसा काम न करेंगे जिससे जेलर साहब पर आंच आये । हमें नाश्ते में दो समय भुने हुए चने मिलते थे । खाने के समय आटा, मिट्टी, तेल, सब्जी के डण्ठल और जला हुआ मसाला—यह सब चीजें बाकायदा धूम-धाम से परोसी जाती थीं । फिरोजपुर जेल के ४ महीने इसी दिन-चर्या से कट गये । कभी-कभी बीच में परिवार की मिलाई के समय फल मिल जाते थे, परन्तु सामान्यतः ऐसी वस्तुओं पर भी कानूनी प्रतिबन्ध लगा हुआ था । जिन्हें कभी भारतीय जेल से वास्ता पड़ा है, वह जानते हैं कि उनमें कानून का द्वार लचकीला है । यदि जेलवाले चाहें या कोई प्रतिभासम्पन्न कैदी बुद्धि का प्रयोग करे तो उस द्वार में से गुजर कर हाथी अन्दर जा सकता है, परन्तु यदि स्थानीय देवताओं की इच्छा न हो तो उसमें से सुई की नोक भी नहीं गुजर सकती । हमारे मामले में द्वार को खोलने के दोनो कारणों का

अभाव था। दरोगाजी अत्यन्त ईमानदार थे और हम अपने वचन से बंधे हुए थे। जब मैं फिरोजपुर जेल से रिहा होने के लिये ड्योढ़ी में पहुंचा तो दरोगाजी ने अपने दफ्तर की एक अलमारी खोल कर दिखलाई। अलमारी के कई खाने फलों, बिस्कुटों के डिब्बों और तरह-तरह के भोज्य पदार्थों से भरे हुए थे। दारोगाजी ने अत्यन्त संतोष और अभिमान से मुस्कराते हुए मुझे बतलाया कि, 'यह सब चीजें समय-समय पर आपके लिए आती रहीं हैं, परन्तु मैंने आप तक नहीं पहुंचायी, क्यों कि ऐसा करना नियमविरुद्ध था, परन्तु मैंने इन्हें दूसरों के हाथ में भी नहीं जाने दिया, सब सुरक्षित धरी हैं। अब आप इन्हें साथ ले जाइये।'

मैं दारोगा जी के इन वाक्यों से बहुत प्रभावित हुआ। यूं तो मैं उनकी ईमानदारी का पहले से ही कायल था, इस घटना ने तो मुझे उनकी सचाई का परमभक्त बना दिया। न खाया और न खाने दिया—इसे अंग्रेजी सरकार की नौकरी में ईमानदारी की पराकाष्ठा समझा जा सकता है। मैंने दारोगाजी का धन्यवाद दिया और निवेदन किया कि यह सब सामान जेल के साधारण कैदियों में बांट दिया जाय। पीछे से मुझे मालूम हुआ दरोगाजी ने मेरी इच्छा का अक्षरशः आदर करते हुए खाने की वह सामग्री कैदियों में बांट दी।

मैंने कहा है कि मैं जब १९२७ के अन्त में दिल्ली जेल में गया, तब मेरा स्वास्थ्य अच्छा समझा जाता था। इसका यह अभिप्राय नहीं कि मैं पूरी तरह स्वस्थ था। वस्तुतः मैं खांसी का आजन्म रोगी हूँ। जब से मैंने होश सम्भाला, तभी से मैं खांसी का मरीज समझा जाता हूँ। दो साल की आयु में बायें फेफड़े का निमोनिया, ४ साल की आयु में डबल निमोनिया, १६ साल की आयु में बायें पार्श्व की प्लुरसी और २४ वर्ष की आयु में आंको निमोनिया-इन सब

आक्रमणों ने मेरे फेफड़ों को सामान्य रूप से और बांये फेफड़े को विशेष रूप से बहुत निर्बल और छलनी-सा कर रखा था। नियमित भोजन तथा दिनचर्या के कारण मैं साधारणतः स्वस्थ बना हुआ था। मेरी सेहत की सदा से यह निर्बलता रही है कि जब तक गाड़ी पटरी पर चलती जाय, तब तक सब कुछ ठीक रहता है, परन्तु जहां गाड़ी का पहिया लीक से इंच भर भी हटा कि खांसी का पुराना रोग हावी हो जाता है, जिससे बीमारी लम्बी और पेचीदा बन जाती है। इस थोड़े से निजी स्पष्टीकरण की सहायता से आप उस वृत्तांत को भली प्रकार समझ सकेंगे जो अब मैं सुनाता हूं।

(३)

मेरे जेल-जीवन का पांचवां महीना आरम्भ हो चुका था। हाई-कोर्ट से छः महीने की महज कैद का दण्ड अंतिम रूप से संपुष्ट हो गया था। सर्दियां समाप्ति पर थीं और बसंत का परिवर्तनमय काल प्रारम्भ हो चुका था। ऋतु के परिवर्तन का काल प्रायः सेहत के लिए खराब होता है। मुझ पर भी उसका असर हुआ। एक दिन रात के कोई दो बजे मेरे पेट में सख्त दर्द उठा। अगले दिन डाक्टर ने बतलाया कि वह प्रतिदिन नाश्ते के समय चने खाने का परिणाम था। दर्द बहुत उग्र था। मुझे ऐसे पेटदर्द का अनुभव नहीं था। मैंने पहरे के सिपाही को आवाज देकर उसकी सूचना दी। उसने नियमानुसार वह सूचना ड्योढ़ी पर पहुंचाई, ड्योढ़ी से शायद वह किसी अफसर के पास भेजी गई, वहां से हुक्म आया कि अस्पताल के नम्बरदार को सूचना दी जाय। जेल के कानून का पालन करते हुए सिपाही ने नम्बरदार को जगाया, जिसने मेरी बन्द कोठरी के सामने आकर मुझे सूचना दी कि पेट के दर्द जैसी साधारण बीमारी के लिए जेल भर को जगा देना ठीक नहीं है। इसके लिए तो सिविल सरजन साहब के सामने तुम्हारी पेशी की जायगी। हां, इस समय यह नम्बर बन

का एक डोज पी लो। मैंने नम्बरदार को कठोर भाषा के लिये दिल ही दिल में क्षमा कर दिया, क्योंकि आधी रात के समय जागने से मिजाज में थोड़ी बहुत गरमी आना स्वाभाविक ही था, टीन का छोटा सा "डुक्का" (छोटा सा गिलास) उसके हाथ से लेकर पी लिया। स्वाद से उसी समय मालूम हो गया था, दूसरे रोज छोटे डाक्टर से ऊसके संपुष्टि भी हो गई कि यह डोज कुनीन का था।

शेष रात उस कड़वे घूंट की सहायता से यथासम्भव संतोष के साथ व्यतीत की। सुबह होने पर अस्पताल में सिविल सर्जन साहब के सामने पेशी हुई। साहब का चेहरा-मोहरा साधारण सरकारी अफसरों जैसा था। शकल-सूरत पर अंग्रेजी रहन सहन, पार्सी खान-पान और नौकरशाही टीप-टाप के पूरे चिह्न विद्यमान थे। मेरे पेश होने पर आपने मुझे बहुत ध्यान से ऊपर से नीचे तक देखा और पूछा—

"आप प्रोफेसर इन्द्र हैं?" मैंने कहा—"जी हां, मुझे इसी नाम से पुकारते हैं।"

"आप किसी कालेज में पढ़ाते हैं?"

"पहले पढ़ाता था, अब अखबारनवीसी करता हूँ।"

इसके पश्चात् कुछ देर तक साहब ने परिस्थिति पर विचार किया, फिर कहा—

'कल रात आपके पेट में दर्द हुआ था।?'

यह प्रश्न ऐसे ढंग पर किया गया था, मानों मुझ पर फर्द जुर्म लगाने की तैयारी हो। मैंने अपराध स्वीकार करते हुए कहा—

'कल रात मेरे ही पेट में दर्द हुआ था।'

अपराध स्वीकार कर लेने पर दण्ड का मिलना ही शेष रह जाता है। साहब ने एक दम हुक्म लिख दिया कि साल्ट पिला दिया जाय। तदनुसार छोटे डाक्टर ने शीशे के बड़े गिलास में कई चम्मच साल्ट मिला कर मुझे पिला दिया। मैंने दवा पी कर साहब से पूछा:—'खाने

के लिए क्या लेना चाहिए?' साहब ने बड़ी शांति से उत्तर दिया 'रोटी'। इस उत्तर से कुछ आश्चर्यित होकर छोटे डाक्टर ने पूछने का साहस किया—'क्या दूध लिख दिया जाय?' साहब का उत्तर स्मरणीय था। आपने कहा—

'दूध की कोई जरूरत नहीं, मैं बीमारों को दूध देने के सख्त खिलाफ हूँ, अगर रोटी 'चाब-चाब' कर खाई जाय तो दूध से भी हल्की होती है।' इतना व्याख्यान देने के पश्चात् साहब ने मुझ से अंग्रेजी में पूछा—

'क्या आपको इसमें कोई आपत्ति है?'

मैंने उत्तर दिया, कि मुझे अपने सम्बन्ध में इस आज्ञा पर कोई आपत्ति नहीं। बाकी रहा असूल का सवाल। सो मैं डाक्टर नहीं, जो राय दे सकूं। साहब मेरे उत्तर से सन्तुष्ट हो गये। मुझे दिन भर जुलाब लगा रहा, शाम को जब भूख ने बहुत सताया तब खूब 'चाब-चाब कर' रोटी खाई और सो रहा।

दो दिन के पश्चात् रात को फिर दर्द उठा। जब दर्द सहन न हो सका, तो सिपाही को बुलाना पड़ा। सब प्रक्रिया उसी प्रकार दोहराई गई थी। घण्टे भर के तानेबाने के पश्चात् सिपाही नम्बरदार को लेकर मेरे पास आया जिसने नम्बर वन का एक और 'डुल्ला' पिलाते हुए वही पुरानी धमकी दोहराई कि कल तुम्हारी पेशी की जायगी। अगले दिन वही नाटक फिर से खेला गया। पेशी हुई, साल्ट का गिलास पिलाया गया और 'चाब-चाब' कर रोटी खाने का हुक्म दिया गया।

तीन चार दिन पीछे फिर ऐसा ही घटना-चक्र चला। पाठक आश्चर्य करेंगे कि मैं इस सारे नाटक में ऐसा निरीह हिस्सा क्यों लेता रहा? मेरा उत्तर स्पष्ट है। मैं उस समय तक एक सत्याग्रही का यही धर्म समझता था कि जेल के हर एक आदेश का सिर झुका कर

पालन किया जाय। साथ ही मैं दरोगाजी के प्रति वचनबद्ध भी था कि उन्हें किसी धर्मसंकट में नहीं डालूंगा।

तीन बार मेरे शरीर ने उस औषधआपरेशन को सह लिया, परन्तु चौथी बार रोग ने विकट और असह्य रूप धारण कर लिया। आधी रात के समय बड़े जोर का 'गोले का दर्द' (गाल ब्लैडर कालिक) उठा और उसके साथ ही बड़ा तेज बुखार चढ़ गया। इस दर्द की वेदना के सम्बन्ध में कुछ लिखना व्यर्थ है। इसे या तो अनुभवी जानते हैं या जिन्होंने कभी कालिक के रोगी को देखा हो वह जान सकते हैं। उस रात मैंने सिपाही को कोई सूचना नहीं दी, क्योंकि इतने कष्ट में कड़वी कुनीन पीने और अधिक कष्ट मोल लेने की इच्छा नहीं हुई। सुबह होने पर जब सिपाही ताला खोलने के लिये आया, तब मैंने उससे कहा कि वह मेरी बीमारी का समाचार दरोगा जी तक पहुंचा दे।

(४)

बीमारी का समाचार पाकर दारोगा जी मेरे पास आये। छोटे डाक्टर को भी बुलाया गया। कालिक के दर्द से मैं बेहाल हो रहा था। बुखार देखा तो १०५ से ऊपर था। बेचारे दरोगाजी की आंखों में आंसू आगये, परन्तु करते क्या? एक ओर जेल मैनुअल, दूसरी ओर यह विचार कि सरविस खात्मे पर है, कहीं कोई बेजाब्ता काम न हो जाय। छोटे डाक्टर से देर तक परामर्श करते रहे। छोटे डाक्टर ने कहा कि रोगी को एक दम अस्पताल ले जाना चाहिये। कोठरी में हवा बन्द है और बेतहाशा मच्छर हैं। दरोगाजी ने प्रस्ताव को स्वीकार किया, परन्तु एक दम ऐसा करने से इन्कार कर दिया, क्योंकि इतना महत्वपूर्ण कदम उठाने से पहले सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब से अनुमति ले लेना आवश्यक था। भाग्यवश उस दिन सिविल सरजन साहब की जेल में आने की बारी नहीं थी। इस कारण उन्हें बीच में डाले बिना ही दोपहर तक मेरे अस्पताल

भेजे जाने की स्वीकृति जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब से ले ली गई। यह महानुभाव राय साहब थे। तबीयत के सादे, प्रबन्ध में दब्बू और विद्याव्यसनी थे। मुझे पुस्तकें प्राप्त करने में इनके निजी पुस्तकालय से बहुत सहायता मिली। जब जेल देखने के लिए आते, कोई न कोई बढ़िया किताब साथ ले आते। सज्जनता का यह हाल था कि शायद ही कभी किसी को कठोर दण्ड देते हों। रहा दब्बूपन, उसका एक नमूना सुनिये—एक दिन शहर के डिप्टी कमिश्नर जेल के निरीक्षण के लिये आये। राय साहिब भी उनके साथ थे। आपको यह ख्याल हुआ कि कहीं डिप्टी कमिश्नर मेरे कमरे की तलाशी न ले लें और उसमें से राय साहब के पुस्तकालय की पुस्तकें न निकल आयें। आप डिप्टी कमिश्नर को जेल के दूसरे हिस्से में निरीक्षण के लिए ले गये, और मेरे पास एक असिस्टेन्ट को भेज कर यह मांग की कि सब किताबें थोड़ी देर के लिये वापिस दे दी जायें। उसी समय मेरी कोठरी में रखी हुई सब किताबों की गठरी बांधी गई और जेल के गोदाम में बन्द कर दी गई। जब डिप्टी कमिश्नर साहब निरीक्षण के लिये आये, तब मेरी कोठरी पुकार-पुकार कर कह रही थी कि मेरा किताबों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यूं डिप्टी कमीश्नर साहब ने मेरी तलाशी लेने का कष्ट नहीं उठाया। अच्छी बात यह हुई कि दूरदर्शिता से काम लेकर रायसाहिब ने अपनी नौकरी और पेन्शन को बाल-बाल बचा लिया।

दोपहर बाद मुझे अस्पताल पहुंचा दिया गया। उस समय दारोगा जी के चेहरे पर संतोष की वास्तविक झलक दिखलाई दी। वह अनुभव कर रहे थे कि आखिर वह मेरे प्रति एक ऐसे कर्तव्य का पालन कर सके, जैसा वह चिरकाल से करना चाहते थे। मैं अस्पताल में जाकर सोलहों आने पारसी सिविल सरजन के साम्राज्य में पहुंच गया।

लगभग एक सप्ताह तक मुझे दर्द और बुखार दोनों का बहुत

कष्ट रहा। दूसरे या तीसरे दिन रात के समय बुखार १०६ से ऊपर हो गया। बीच बीच में 'डिलीरियम' भी हो जाता था। दरोगा जी ने घबरा कर सिविल सरजन को टेलीफोन द्वारा जेल में बुलावा भेजा। दूसरे रोज टेलीफोन की वह बातचीत मुझे सुनाई गई। वह इस योग्य है कि मैं उसे यहां लिख दूं। वह मनोविज्ञान के विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी हैं। सिविल सरजन को टेलीफोन द्वारा दरोगा जी का यह संदेश पहुंचाया गया कि प्रोफेसर इन्द्र की हालत बहुत खराब है, आप इसी समय आकर देख लीजिये। इसके उत्तर में सिविल सरजन ने पूछा।

'क्या हालत बहुत ही खराब है?'

'जी हां, बहुत ही खराब है।

'तब मेरे वहां आने से क्या लाभ होगा? क्या मैं खुदा हूँ, जो उसे बचा लूंगा?'

इस उत्तर को सुन कर छोटे डाक्टर ने (जो उस समय टेलीफोन कर रहे थे) समझा कि उत्तर देने में शायद कुछ भूल हुई; भूल का सुधार करते हुए उसने साहब से कहा—

'हुजूर मेरे कहने में कुछ भूल हुई। प्रोफेसर इन्द्र की हालत ऐसी खराब नहीं है कि उसे सम्भाला न जा सके।'

उत्तर मिला—

'तब तो मेरा इस वक्त जाना बिल्कुल फिजूल है। सुबह देखने से भी काम चल जायगा।'

छोटा डाक्टर निरुत्तर हो गया। तीसरा कोई विकल्प सम्भव ही नहीं था। उसने टेलीफोन रख दिया और सिविल सरजन साहब नींद खराब करने के लिए दरोगा और छोटे डाक्टर को कोसते हुए सम्भवतः अपनी मसहरी में जा लेटे।

इसके आगे लगभग तीन सप्ताह तक मैं जेल में रहा। सिविल सर्जन का कहना ठीक ही था कि वह खुदा नहीं था। उसका कोई बस

नहीं चला और असली 'खुदा' ने मेरी रक्षा की। दौरा तो छः सात दिन में हट गया, परन्तु प्रतिदिन बुखार आने लगा। एक बुरी बात यह हुई कि मेरी पुरानी खांसी की बीमारी शरीर को निर्बल पाकर जोर पर आ गई। इस बीमारी के लम्बे वृत्तान्त में पाठकों को न घसीट कर संक्षेप में इतना बता देना ही पर्याप्त है कि जब बीमारी का समाचार दिल्ली पहुंचा तो मेरी पत्नी और बन्धुवर्ग घबरा गये। वे लोग जेल में आकर मुझ से मिले फिर उन्होंने डाक्टर सुखदेवजी और डाक्टर तुलसीरामजी को मेरी दशा देखने के लिए दिल्ली से भेजा और अन्त में जेल विभाग की आज्ञा प्राप्त करके डाक्टर अन्सारी मेरी स्वास्थ्य-परीक्षा के लिए फीरोजपुर जेल गये। जब सिविलसरजन साहब को यह खबर लगी कि डाक्टर अन्सारी मुझे देखने आ रहे हैं तो उन्होंने मुझसे कहा कि मालूम होता है कि आपकी बीमारी का शोर बहुत मच गया है। मैंने अखबार में पढ़ा था कि असेम्बली में भी सवाल किया गया है। मेरी तो यह राय है कि आपको कोई खास बीमारी नहीं। आपकी क्या राय है? क्या आपको तपेदिक है?'

मैंने उत्तर दिया कि मैं आपसे सहमत हूँ। मुझे तपेदिक बिल्कुल नहीं है।

मेरे उत्तर से सन्तुष्ट होकर साहब ने पूछा: 'तो फिर यह डाक्टर अन्सारी क्यों आ रहे हैं? यह तो वही दिल्ली के हकीम हैं न, जो बल्लीमारों में बैठते हैं?'

मुझे सिविल सरजन की मूर्खता पर हंसी तो आई, परन्तु केवल मुस्करा कर मैंने कहा "आपका ख्याल गलत है। डाक्टर अन्सारी हकीम नहीं हैं, बहुत बड़े डाक्टर हैं। विलायत के M. D. हैं और देश के प्रख्यात डाक्टर हैं।'

यह बात सिविल सरजन की समझ में नहीं आई या अच्छी नहीं लगी, इसका उत्तर मैं ठीक ठीक नहीं दे सकता। आपने उत्तर

दिया, 'हो सकता है ।' मैंने बात को जरा नर्म करने के लिये कहा—'वह बहुत अच्छे आदमी हैं। आप उनसे कल जरूर मिलियेगा।'

'मैं कल नहीं आ सकूंगा' यह खुश्क उत्तर देकर सिविल सरजन साहब जेल से चले गये, और दूसरे दिन नहीं आये।

परिच्छेद अधिक बढ़ गया है। इसे मैं अन्तिम दृश्य के साथ समाप्त करता हूँ। डाक्टर अन्सारी ने जेल विभाग का मेरे स्वास्थ्य की जो रिपोर्ट भेजी उसके आधार पर आई. जी. (जेल के इन्सपैक्टर जनरल) ने फीरोजपुर जेल में निम्न लिखित तार भेजा। "Release Prof Indra if fit for journey (यदि सफर के योग्य हों तो प्रोफेसर इन्द्र को रिहा कर दिया जाय) दारोगा जी ने इस तार को दफ्तर में रख कर निम्न लिखित प्रश्न सिविल सरजन के पास उत्तर के लिये भेजा—"Please report if Prof Indra is fit for journey? (कृपया रिपोर्ट दीजिये कि प्रोफेसर इन्द्र सफर के लायक हैं या नहीं)

साहब इस तार को लेकर घबराए हुए मेरे पास आये। पूछने लगे कि इसका क्या मतलब है? रिहाई या तबादला?

मैंने असली तार नहीं देखा था, इस कारण सावधान होकर उत्तर दिया—

'कुछ कह नहीं सकता, शायद तबादला ही होगा'

साहब ने सन्तोष का सांस लिया और रिपोर्ट लिख दी कि प्रोफेसर इन्द्र सफर के लायक हैं।

थोड़ी देर में जब सिविल सरजन जेल से चला गया तो मैंने देखा कि दरोगा जी अस्पताल की दीवार के पीछे से झटपट निकल कर आये और रिपोर्ट पढ़ कर मुझ से कहने लगे 'पंडित जी, अब आप एक मिनट की भी देर मत कीजिए, यदि उस मूजी को यह मालूम हो गया कि आपको रिहाई हो रही है तो वह अभी वापिस आकर अपनी रिपोर्ट बदल देगा। आपका सब सामान मैं सम्हाल कर पीछे

भिजवा दूंगा। आप एक दम जेल के दरवाजे से बाहर हो जाइये। आप के लिए गाड़ी तैयार खड़ी है।'

दारोगाजी का डर बिल्कुल यथार्थ था। जब मैं जेल की ड्योढ़ी में पहुंच कर बाहर निकलने के लिए तैयार हो रहा था, तब दरोगाजी को सिविल सरजन का टैलीफोन मिला। उसने पूछा, 'क्या यह सच है कि प्रोफेसर इन्द्र की रिहाई का हुकम आ गया?' स्वीकारात्मक उत्तर मिलने पर उसने टैलीफोन पर कहा—

'मुझे धोखा हुआ, उसे ठहराओ मैं आता हूं।' दरोगा जी ने टैलीफोन का 'रिसीवर' नीचे रखते हुए मुझे हाथ के इशारे से एकदम दरवाजे से बाहर जाने की प्रेरणा की। मैं बाहर चला गया और घोड़ागाड़ी पर जा बैठा। मेरी गाड़ी अभी जेल के कम्पाउन्ड से निकली नहीं थी कि दूसरे रास्ते से मेजर साहब (सिविल सरजन) की मोटर जेल में आती दिखाई दी।

उनके जेल के दरवाजे तक पहुंचने से पहले मैं जेल की सीमाओं से बाहर जा चुका था।

सुनते हैं, जेल के अन्दर पहुंच कर जब उन्हें मालूम हुआ कि चिड़िया उड़ चुकी है तो वह बहुत लाल-पीले हुए और आई. जी. तक शिकायत पहुंचाने की धमकी दी।

इस नौकरशाही के पुराने घाघ को मुझसे इतना विरोध क्यों था, इस प्रश्न का उत्तर मैं नहीं दे सकता। अतः एक और सज्जन का दिया हुआ उत्तर यहां उद्धृत करके लेख को समाप्त करता हूँ। उस सज्जन ने कहा था कि आपको रिहा होना ही था तो कम से कम पांच-सौ की थैली मेम साहब के पास पहुंचा देनी थी। अगर आपकी तरह सब कैदी फोकट में ही रिहा हो जाया करें, तो बेचारे ऊँचे अधिकारियों का काम कैसे चले।

पं० बधावाराम—जेलर

(१)

पं० बधावाराम १६२६ से दो-तीन वर्ष तक दिल्ली जेल के डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट (जेलर) रहे। लेख के शीर्षक के रूप से एक जेलर का नाम देख कर पाठक आश्चर्यित न हों। जिन लोगों को पंडित बधावाराम से किसी तरह का वास्ता पड़ा था, वह जानते हैं कि वह एक असाधारण मनुष्य था। वह अच्छा था या बुरा, इस प्रश्न का मैं कोई उत्तर नहीं दूंगा और प्रत्येक पाठक अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उत्तर देने में स्वतन्त्र हैं। मैं तो भलाई और बुराई, साहस और विनय, चतुराई और अदूरदर्शिता के उस अद्भुत मिश्रण की कुछ स्वयं देखी घटनायें सुना कर फैसला पाठकों पर ही छोड़ दूंगा। पं० बधावाराम अब इस लोक में नहीं हैं, परन्तु वह सब राजनीतिक बन्दी जो उनकी जेल में रहे, उस दबंग दरोगा की स्मृति को नहीं भुला सकते।

जिन देश-भक्तों को पं० बधावाराम के पास जेल में रहना पड़ा, उनकी सूची बहुत बड़ी है। दिल्ली के स्त्री तथा पुरुष सत्याग्रहियों के

अतिरिक्त कांग्रेस की वर्किंग कमेटी के उस समय के लगभग सब सदस्यों को काफी समय तक दिल्ली की जेल में रहना पड़ा था। मैं तो लगभग पांच मास तक पं० बधावाराम के प्रबन्धकाल में दिल्ली जेल में रहा। १९३० के नमक सत्याग्रह आरम्भ होने से कुछ सप्ताह पहले ही मुझे गिरफ्तार कर लिया गया था। और मेरे कुछ लेखों और भाषणों को आपत्ति-जनक मान कर नौ महीने के कारागार की सजा दे दी गई थी। मेरे साथ और मेरे पीछे सैकड़ों सत्याग्रही दिल्ली जेल में पहुंचे और पञ्जाब की जेलों में सजा काटने के लिये भेज दिये गये, परन्तु मुझे दिल्ली में ही रखा गया। इसका कारण यह बतलाया जाता था कि जेलों के इन्सपैक्टर जनरल ने दफ्तर १९२७—१९२८ के अनुभव के आधार पर मुझे पंजाब की किसी जेल में रखने से इन्कार कर दिया। समझा गया कि पंजाब का जल-वायु शायद मेरे अनुकूल न पड़े। मैंने अपनी यह सजा दिल्ली के डिस्ट्रिक्ट जेल में ही काटी।

(२)

प्रातःकाल का समय था। मैं अभी स्नान आदि से निवृत्त भी नहीं हुआ था कि मेरे एक सहयोगी राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता मेरे घर पर पहुंचे, और मुझे सूचना दी कि उनका वारन्ट निकला हुआ है पुलिस उनकी तलाश में फिर रही है। वह मुझ से यह सलाह करने आये थे कि उन्हें किस प्रकार गिरफ्तार होना चाहिये। मैंने उन्हें सलाह दी कि खूब धूमधाम से गिरफ्तार होना चाहिये। उसका उपाय यह सोचा गया कि हम लोग जलूस बना कर नारे लगाते हुए उनके साथ कोतवाली तक जायें और वहां वह अपने आपको पुलिस के सुपुर्द कर दें। टैलीफोन और हरकारों की सहायता से थोड़ी ही देर में बहुत से कार्यकर्त्ता एकत्र कर लिये गये, और जलूस कोतवाली की ओर चल पड़ा। घर से जाते हुए मेरी पत्नी ने मुझ से कहा कि सुबह का नाश्ता तैयार है, आप लोग कुछ लेकर जाइये। मैंने अपने आशावादी स्वभाव के अनु-

साफ उत्तर दिया कि 'हम अभी लौट कर आयेंगे। सम्भवतः गर्ग जी (मेरे सहोद्योगी का नाम श्री नारायणदास गर्ग था।) के वारन्ट की खबर भी निर्मूल ही होगी। हम अभी आकर नहा-धोकर नाश्ता लेंगे। मेरी पत्नी को इस उत्तर से सन्तोष तो नहीं हुआ, परन्तु जलूस का ढंग बन चुका था। इस कारण उस समय रवाना हो जाना ही उचित समझा गया। कोतवाली के दरवाजे तक पहुंचते पहुंचते जलूस में कई हजार आदमी इकट्ठे हो गये। दरवाजे पर हमारे स्वागत के लिये बहुत-से बन्दूकधारी पुलिस खड़ी थी। जलूस के वहां पहुंचने पर दो सब-इन्सपेक्टर आगे बढ़े और गर्ग जी को दोनों ओर से पकड़ लिया। गर्ग जी तो स्वयं गिरफ्तार होने आये थे, तब इस बलप्रदर्शन की क्या आवश्यकता है, यह समझ कर मैंने सब-इन्सपेक्टर से कहा, 'यह तो स्वयम् ही जाने को तैयार हैं, आप इन्हें घसीटते क्यों हैं?' इसका उत्तर सब-इन्सपेक्टर ने यह दिया कि "आपको डिप्टी साहब ने याद किया है, आप भी साथ चले चलिये। 'बहुत अच्छा' कह कर मैं भी उनके साथ हो लिया। हमें अन्दर लेकर कोतवाली के बड़े द्वार की खिड़की बन्द कर दी गई। द्वार तो पहले से ही बन्द था। खिड़की बन्द होने पर सब-इन्सपेक्टर ने मुझ से कहा—'प्रोफेसर साहब! आपका भी वारन्ट है।' इस तरह नाटकीय ढंग पर गिरफ्तार होकर मैं दिल्ली की जेल में दूसरी बार पहुंचा।

जेल के दरवाजे में घुसते ही ड्योढ़ी में पं० बधावाराम से मुलाकात हुई। आप लम्बे चौड़े पंजाबी गठन के गोरे रङ्ग के व्यक्ति थे। चेहरे पर प्रायः हंसी रहती थी। हां, जब गुस्सा आता था, तब आँखें और चेहरा दोनों लाल हो जाते थे। आवाज़ खूब ऊंची और रौबदार थी। पुराने जमाने के अफसर होने के कारण अच्छी अंग्रेजी नहीं बोल सकते थे, परन्तु विशेष बात यह थी कि बड़े अंग्रेज अफसर के सामने धारा-प्रवाह गोराशाही अंग्रेजी बोलने में ज़रा संकोच नहीं करते थे।

मुहावरे या व्याकरण की कोई परवाह न करके धड़ाधड़ बोलते जाते थे। अंग्रेजी भली हो या बुरी, उनका काम चल जाता था।

मिलने पर हंसते हुए चेहरे से पं० बधावाराम ने कहा, 'आइये, मैं तो आपकी इन्तजार ही कर रहा था।' और हाथ बढ़ा कर खूब जोर से मिलाया। मुझे उस समय तीन वर्ष पहले की बात याद आ गई, जब मैं प्रातःकाल के अंधेरे में फिरोजपुर जेल में प्रविष्ट हुआ था, तब पंजाब के जेल-विभाग में ईमानदारी के लिये सब से प्रसिद्ध दारोगाजी से भेंट हुई थी। वह भेंट जितनी ठंडी थी, पं० बधावाराम से यह पहली भेंट उतनी ही गर्म थी। सिपाहियों और अपने सहायकों और शायद दो-एक सी० आई० डी० के सज्जनों के सामने वह मेरा हाथ पकड़े हुए ड्योढ़ी से अपने कमरे में ले गये और वहां ले जाकर कुर्सी पर बिठाते हुए कहा—'प्रोफेसर साहब! आपने पहले भी जेल देखा है और अब बधावाराम का जेल भी देखिये। घर से ज्यादा आराम न दे दिया तो मेरा नाम भी बधावाराम नहीं।' यह बात डिप्टी साहब ने जेल के सहायक जेलरों और नम्बरदारों के सामने छाती ठोक कर कही! मैं अंग्रेज नौकरशाही की जेल में बैठा हुआ आश्चर्य से उस अफसर के मुंह की ओर देख रहा था और सोच रहा था कि यह मेरे साथ व्यङ्ग या मजाक कर रहा है या सच्ची बात कह रहा है।

(३)

उपर्युक्त भूमिका के पश्चात् मेरा जो जेल-जीवन आरम्भ हुआ, मैं उसका विस्तार से वर्णन नहीं करूंगा। उस जीवन का अनुभव दिल्ली के सत्याग्रहियों के अतिरिक्त देश के प्रायः प्रत्येक प्रान्त के नेता और राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता कर चुके हैं। जब डाक्टर अन्सारी के बंगले पर कांग्रेस की वर्किंग कमेटी के सब सदस्य गिरफ्तार हुए थे, तब दिल्ली जेल का प्रबन्ध पं० बधावाराम के ही हाथ में था। वह सभी लोग उस अद्भुत जेलर और उसके सहायक महन्त नारायणदास को अब तक

याद करते हैं। यह मानना पड़ेगा कि राजनैतिक बन्दियों के लिये पं० बधावाराम के समय का कारागार मुख्यतया चार-दिवारी तथा ताले-चाबी तक ही परिमित था।

हम लोगों को उस खुली बैरक में रखा गया था जो, उन दिनों गोरा-बैरक कहलाती थी। वहां पहुंचने पर हम लोगों ने देखा कि जो टट्टियां बनी हुई हैं, वह अच्छी नहीं। शिकायत करने पर बिल्कुल नई टट्टियां साबरमती आश्रम की टट्टियों के ढंग पर बनवा दी गईं। जब मौसम जरा गर्म हुआ तो हम लोगों के कहने पर बैरक के कमरों में छत के पंखे लगवा दिये गये। दूध, घी आदि सब सामान 'ए' क्लास के कैदियों की मार्फत खुले तौर पर बाहर से आ सकता था। मिलने-जुलने में कोई विशेष रुकावट नहीं थी। कभी कभी दोपहर के समय दफ्तर में प्रायः सभी राजनैतिक बन्दी और उनसे मिलने वाले बीसियों मुलाकाती इकट्ठे हो जाते थे। उस समय दफ्तर में तिल रखने की भी जगह नहीं बचती थी। कभी-कभी तो दफ्तर के अन्दर के कमरे में कैदियों और मुलाकातियों की युद्ध-समिति भी हो जाती थी। एक साथ मिल कर फल-भोज तो प्रायः होता ही रहता था। कभी कभी सी० आई० डी० के लोग डिप्टी कमिश्नर के पास शिकायत भेज कर थोड़ी बहुत दिक्कत पैदा कर देते थे, परन्तु प० बधावारामजी अपनी व्यवहार कुशलता द्वारा उलझन को शीघ्र ही सुलझा लेते थे और गाड़ी फिर अपनी पटरी पर निर्विघ्न रूप से चलने लगती थी।

एक बार मामला बहुत पेचीदा हो गया। 'सी' क्लास के लगभग १०० राजनैतिक बन्दियों ने दरोगा के पास अपनी शिकायतों और मांगों की लम्बी सूची भेजते हुए धमकी दी कि यदि मांगें पूरी न की गईं तो वह भूख हड़ताल कर देंगे। पं० बधावाराम का खयाल था कि सारी मांगें एक साथ पूरी नहीं की जा सकतीं। उनका यह भी विश्वास था कि कैदी लोग भूख हड़ताल नहीं करेंगे, क्योंकि उनकी शिकायतों को दूर करने का

प्रयत्न बराबर होता रहता है। इस भरोसे पर वह धीरे धीरे चल ही रहे थे कि भूख-हड़ताल शुरू हो गई और जेल में 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे गूंजने लगे। पं० बधावाराम इन बातों से बहुत खिन्न होकर अपने घर चले गये। जब खाने का समय आया, तब नौकर को आवाज दी कि खाना ले आओ। नौकर ने आकर डरते डरते जो उत्तर दिया उससे पंडित जी स्तब्ध रह गये। उसने आकर बतलाया कि आज रोटी नहीं बनी, क्योंकि मांजी ने चूल्हे में आग जलाने से मना कर दिया है। अब तो पं० जी बहुत घबराये। उन्हें खाने का बेहद शौक था। मशहूर था कि वह सुबह के नाश्ते के समय एक बड़ा कटोरा भर मलाई खाया करते हैं। आपने अन्दर जाकर पूछा तो पत्नी ने उत्तर दिया—जेल में लड़के भूखे मर रहे हैं और मेरे घर में रोटी बने, यह कैसे हो सकता है। मैं भी बच्चों वाली हूँ। जब लड़के भूख हड़ताल तोड़कर खाना खा लेंगे, तब मेरे चूल्हे में भी आग जल जायगी।' अब तो बधावाराम जी के होश गुम हो गए। भागे हुए जेल में आये और मुझे तथा श्री देवदास गांधी को (देवदास जी भी हमारे साथ ही जेल में थे) अलग ले गए और हड़ताल तोड़ने के उपायों पर परामर्श करने लगे। हमने उन्हें समझाया कि लड़कों की मांगें उचित हैं, उन्हें पूरा करना ही चाहिये। बेचारे रात भर भूखे रहे और प्रातःकाल उठते ही जेल सुपरिन्टेडेन्ट (जिनका नाम, जहां तक याद है, मेजर वैब था) के घर पर पहुंचे और उन्हें अधिकतर मांगों की स्वीकृति के लिये तैयार कर लिया। दोपहर तक कैदियों की शिकायतों को दूर करने का आश्वासन मिल गया, जिससे भूख हड़ताल टूट गई और पं० बधावाराम जी के घर में भी चूल्हा गरम हो गया।

इसी प्रसंग में अन्य समाचारों के साथ हम लोगों को यह समाचार भी मिला था कि पं० बधावारामजी की सहानुभूति का यह हाल था कि जब एक दिन सायंकाल के समय मुलाकात के पश्चात मेरे परिवार को घर वापिस जाने के लिए तांगा न मिला तो उन्होंने

अपनी विक्टोरिया गाड़ी जुतवा कर उसमें परिवार को भेज दिया। हम लोगों के कहने पर एक बार हमारे घर से ग्रामोफोन और दूसरी बार हमारे एक और साथी के घर से व यलन भी मंगवा दिया था। हम स्वयं आश्चर्य किया करते थे कि एक भारतीय जेल का दरोगा इतना साहस कैसे कर सकता है।

इस स्थान पर मेजर वैब के सम्बन्ध में कुछ शब्द लिख देना भी आवश्यक है। यह सम्भवतः नयी देहली के हैल्थ आफिसर थे। उनके व्यवहार में वह सब वस्तुएं पायी जाती थीं, जिन्हें अंग्रेजों के गुण समझा जा सकता है। दोष थे या नहीं यह मैं नहीं जानता। हम लोगों से उनका जितना वास्ता पड़ा, उसके आधार पर मैं यह नहीं कह सकता हूं कि वह दिल के बहुत ही अच्छे आदमी थे। मैंने बहुत से ऐसे अफसर देखे हैं जो हुकूमत का अभिप्राय यह समझते हैं कि उनका कुछ बने या न बने, प्रजा को किसी प्रकार की सहूलियत न मिलनी चाहिये। मेजर वैब की तबियत यह थी कि यदि अपनी कोई हानि न हो तो कैदियों को अधिक से अधिक आराम दिया जाय। सुपरिन्टेन्डेन्ट की इसी तबियत का परिणाम था कि प० बधावाराम को राजनैतिक कैदियों के साथ ऐसा अच्छा सलूक करने का अवसर मिलता रहा।

[४]

लगभग ३ वर्ष तक पं० बधावाराम ने दिल्ली जेल का प्रबन्ध किया। इस समय में वह सैकड़ों देश-भक्त पुरुषों और स्त्रियों के हृदय पर अपनी अच्छी अच्छी स्मृति अंकित कर गये, परन्तु नौकरशाही हुकूमत में ऐसी साहसिकता की अधिक गुंजाइश नहीं रहती। न जाने यह तीन साल किस कठिनाई से कटे होंगे। सी० आई० डी० के गोइन्दे निरन्तर बधावाराम जी की शिकायतें करते रहते थे। अन्त में उन्हें दिल्ली से मुलतान भेज दिया गया, जहां वह पुराने सेन्ट्रल

जेल के डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट बनाये गये। वहां जाकर भी पं० जी ने दिल्ली की नीति पर चल कर राजनैतिक कैदियों को आराम देने का यत्न किया, परन्तु वहां मेजर नहीं थे और न दिल्ली शहर था। वह पंजाब था और सुपरिन्टेन्डेन्ट थे डाक्टर खान। परिणाम यह हुआ कि डाक्टर खान की सिफारिश पर कुछ ही समय पीछे बधावाराम को नौकरी से मुअत्तिल (स्थागित) कर दिया गया और अन्त में समय से पूर्व ही कम पेन्शन पर नौकरी से अलग होने पर मजबूर किया गया। भला नौकरशाही हुकूमत में सज्जनता और उदारता चिरकाल तक कैसे खप सकती थी?

मेजर फजलुद्दीन और सैंट्रल जेल

[१]

१९३२ के सत्याग्रह आंदोलन में जब हम लोग दिल्ली की जेल में पहुंचे, तब वहां के वातावरण को बहुत कुछ बदला हुआ पाया। सबसे बड़ा परिवर्तन तो यह था कि पं० बधावाराम का तबादला हो चुका था। दूसरी नई बात यह थी कि दिल्ली के अति० मजि० मि० पूल ही जेल के सुपरिन्टेन्डेन्ट नियुक्त कर दिये गये थे। नौकरशाही की शासन पद्धति अपने उग्रतम रूपमें यदि कहीं दिखाई दे रही थी तो वह दिल्ली प्रांत में। उसी अधिकारी ने हमारी गिरफ्तारी के वारेण्ट पर हस्ताक्षर किये, उसी ने जज बन कर सजा दी और अब वही हमारा मुख्य जेलर बना। राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से शासन के अधिकारों का यह केन्द्रीकरण अत्यन्त दूषित समझा जा सकता है। परन्तु नौकरशाही की स्मृतियों में उसका प्रमुख स्थान है। वह नौकरशाही के भवन का आधारस्तम्भ समझा जाता है।

इस बार हम लोगों को उस पुरानी बंगलानुमा बैरक में न रख कर नई बनी हुई गोराबैरक में रखा गया। इसमें यद्यपि स्थान-

कम था, पर आराम अधिक। मकान हवादार था, टट्टियों में फ्लैश लगे हुए थे और एक कोने मे बना होने के कारण जेल की बदबू से भी थोड़ा-बहुत बचा हुआ था। इस बार एक नई बात यह थी कि डाक्टर अन्सारी भी हमारे साथ ही बन्द थे। कहते हैं कि अधिक समीप रहने से मनुष्यों में एक दूसरे के लिये तिरस्कार का भाव पैदा हो जाता है। इसी कारण जेल के सहवास को मनुष्य के आदर-सत्कार की कसौटी कह सकते हैं। जेल के सहवास में मैंने बड़े-बड़े बुतों का टूटते देखा है। जिन्हें जेल के बाहर देवता समझ कर पूजा जाता था, जेल के सहवास ने उनके चरित्र का ऐसा गन्दा रूप प्रकट किया कि स्वयं-सेवक तक उन्हें तुच्छ और पतित समझने लगे। परन्तु डाक्टर अन्सारी के चरित्र का सबसे बड़ा गुण यह था कि जितना ही उनके समीप जाओ, उनके प्रति आदर-भाव उतना ही अधिक बढ़ता था। हम लोग उनके साथ जेल में केवल तीन सप्ताह तक रहे। इन तीन सप्ताहों में मेरे मन में उनके प्रति प्रेम और आदर की जो भावना थी, वह सौगुनी हो गई। उनकी देश-भक्ति कुन्दन की तरह खरी थी और उनकी सज्जनता हीरे की तरह उज्ज्वल और ठोस थी। एक बड़ी बात यह थी कि उनके जीवन में बनावट नहीं थी। वह हम सब में आयु और योग्यता दोनों में बड़े थे, परन्तु वह एक क्षण भर के लिए भी यह अनुभव नहीं होने देते थे कि हम उनसे छोटे हैं। उनके रात दिन के व्यवहार और बात-चीत में कभी इस बात की बू नहीं आने पाती थी कि वह देश के सर्वोत्कृष्ट चिकित्सक और प्रमुख राजनीतिज्ञ नेता हैं। उनमें न अकड़ थी और न बू।

एक दिन ड्योढ़ी से सूचना आई कि मौलाना शौकत अली, डाक्टर अन्सारी से मिलने आये हैं। मौलाना शौकतअली अपने को केवल भारत में ही नहीं अपितु संसार के महापुरुषों में प्रमुख व्यक्ति मानते थे। उन्हें बहुत बड़ा आश्चर्य हुआ, जब डाक्टर अन्सारी ने उन्हें कहला भेजा कि आपने कौम के साथ गद्दारी की है, इस कारण

मैं आप से नहीं मिलना चाहता। हम लोगों ने भी डाक्टर जी से कहा कि आप मिल लीजिये, देखिये वह क्या कहते हैं? परन्तु डाक्टरजी अपनी बात पर अटल रहे। मौलाना शौकतअली को अपने जीवन में एक बार हार मान कर और छोटा सा मुंह लेकर वापिस जाना पड़ा।

मेरे स्मृति-पट पर डाक्टर अन्सारी के संस्मरण इतने गहरे अक्षरों में अंकित हैं कि यदि मैं अपनी लेखनी को यत्न-पूर्वक न रोकूं तो यह लेख उन्हीं में समाप्त हो जायगा। उन्हें दूसरे अवसर के लिये छोड़ कर मैं इतना ही लिख कर आगे चलता हूँ कि १६३२ के तीन सप्ताह जो हमने दिल्ली जेल में काटे, डाक्टर अन्सारी से सम्बन्ध रखने वाली स्मृतियों से इतने अधिक भरे हुए हैं कि उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

[२]

आखिर दिल्ली में प्रतीक्षा का समय समाप्त हुआ और दूसरे जेल में जाने की तैयारी होने लगी। इस समाचार ने हम लोगों में बहुत हलचल पैदा कर दी कि इस बार ए' और 'बी' क्लास के सब राजनैतिक कैदी मुलतान के न्यू सेन्ट्रल जेल में भेजे जायगे। न्यू सैंट्रल जेल मुलतान अपने सुपरिन्टेन्डेन्ट मेजर फज़लुद्दीन के कारण पंजाब भर में मशहूर था। मेजर फज़लुद्दीन का सभी कुछ चर्चा के योग्य था। मध्यम कद था, रंग ऐसा काला था कि तवे से उपमा देने में अत्युक्ति का दोष नहीं आ सकता था। शरीर खूब गठा हुआ था। चलते हुए गरदन या कमर में जरा सी भी लचक नहीं आती थी। जिस समय वह जेल के दौरे को आते थे, तब कोट, पैन्ट और हैट पहने, बांया हाथ पैन्ट की जेब में, दांये हाथ में पुलिसवालों की छोटी रेग्यूलेशन स्टिक लिए, गर्दन बिल्कुल अकड़ी हुई और चेहरा मुट्ठी की तरह बंधा हुआ होता था। इस हुलिये को देख कर यही कहने को जी चाहता था कि यह मनुष्य नहीं है, अपितु लोहे के कलपुर्जों का आदमी है जो चाबी के बल पर घूम

रहा है। मेजर के बारे में तरह तरह की बातें मशहूर थीं। कहा जाता था कि उसके बांये हाथ में हमेशा भरी हुई पिस्तौल रहती है। यह भी प्रसिद्ध था कि दांये हाथ में जो छड़ी है, उसमें लोहा भरा हुआ है। रंग के बारे में आम कैदियों की यह राय थी कि वह काली बूट पालिश से मिलता है। इन सब प्रसिद्धियों से यह परिणाम आसानी से निकाला जा सकता है कि मेजर फजलुद्दीन को बहुत ही कठोर और अप्रिय अफसर समझा जाता था। दिल्ली के कुछ राजनैतिक बन्दी १९३० में उसकी जेल में रह आये थे। उनमें से बहुत सों को मेजर ने हथकड़ी बेड़ी की सजा दी थी। ऐसे अफसर की जेल में जाने पर हम लोगों में मानसिक हलचल होना स्वाभाविक ही था। आगामी संघर्ष की सम्भावना से प्रायः सभी ने दिल्ली से ही आस्तीनें चढ़ा ली थीं।

मुलतान जानेवाले पहले जत्थे में मौलाना आरिफ भी थे। मौलाना आरिफ उन इने-गिने मुसलमान राष्ट्र-भक्तों में से थे, जो परीक्षा में कभी अनुत्तीर्ण नहीं हुए। देश के हर प्रकार के कार्य में वह हमेशा सिपाहियों की अगली पंक्ति में दिखाई देते थे। यूं शरीर से बहुत ही दुबले पतले थे, देखने से मालूम होता था कि किसी ने बांस के ढांचे पर खद्दर मढ़ दिया हो। वह शायर भी थे। एक बड़ा उगालदान और मसनद जेल में भी उनके साथ रहते थे। पान के तो वह दीवाने थे। जागते हुए शायद ही कोई क्षण ऐसा हो, जब पान उनके मुंह में न रहता हो। यहां तक कि बात करते हुए उनके मुंह में पान का भरा रहना आवश्यक-सा हो गया था। वह कई बरस तक दिल्ली की जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष रहे। उन्हें जेलवाले नवाब साहब कहा करते थे।

पहले जत्थे के सप्ताहभर पीछे दूसरा जत्था मुलतान भेजा गया। मैं उस जत्थे में था। न्यू सैंट्रल जेल की ड्योढ़ी में पहुंच कर जो पहला अनुभव हुआ, उसमें से दो बातें विशेष रूप से याद हैं। सब

से पहली और प्रमुख बात तो यह थी कि इस जेल की हर एक वस्तु साफ सुथरी मालूम हुई। आम तौर पर बदबू या मक्खी का अभाव प्रतीत होता था। दूसरी विशेष बात थी कि हर एक काम में सख्ती की बू आती थी। हमारे पहने हुए कपड़ों की अच्छी तरह तलाशी ली गई। बक्स अपनी चाबियों के साथ ड्योढ़ी में ही रख दिये गये, ताकि हमारी अनुपस्थिति में खूब खोद-खोद कर तलाशी ली जा सके।

मुलतान का न्यू सैंट्रल जेल अन्दर से बहुत खुला है और अच्छे ढंग से बना हुआ है। जेल के बीचो-बीच लम्बा चौड़ा बाग है, जिसमें घास के कई अच्छे मैदान हैं। 'ए' और 'बी' क्लास के राजनैतिक कैदियों को अलग अलग बैरकों में रखा गया था। जब मैं अपनी बैरक में पहुंचा तो वहां पहुँचा, जहां पंजाब और दिल्ली के कुछ भाई पहुंच चुके थे। कांग्रेसी कैदियों के अतिरिक्त जमीयत और अहरार पार्टी के मौलाना भी विद्यमान थे। मौलाना दाऊद गजनवी को मैंने पहले पहल यहीं देखा था। यहां की मण्डली में उनका उपनाम 'बेपैंदी का लोटा' रखा हुआ था। मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ जब मैंने अखबारों में पढ़ा कि पीछे से वह पन्जाब की प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चुने गये हैं। यह चुनाव सदस्यों ने किया हो या कांग्रेस के हाई कमाण्ड ने, चुनाव करने वाले की विवेक-शून्यताका ही परिणाम था। विचारों की अस्थिरता मौलाना दाऊद गजनवी की खासियत थी। अन्त में वह मुस्लिमलीग के गिरोह में चले गये।

[२]

मैं यह नहीं जानता कि मेरे जेल के साथियों ने यह निश्चय मेरे वहां पहुंचने से पूर्व ही कर लिया था या मेरे पहुंचने पर किया कि मुझे दोनों बैरकों का जत्थेदार बना दिया जाये। जेल में जत्थेदार बनना बड़ी मुसीबत का काम है। मेरे दो एक मित्रों ने मुझे सावधान करते हुए जत्थेदार बनने से रोकने की चेष्टा भी की, परन्तु मैंने अपने

आशावादी सहज स्वभाव के अनुसार उत्तर दिया कि 'आशा तो यह है कि कठिनाई उत्पन्न ही न होगी और यदि होगी तो हल कर ली जायगी। व्यर्थ में अनिष्ट की आशंका क्यों की जाय?" जत्थेदार बनना था कि चारों ओर से जेल के प्रबन्ध की शिकायतें आने लगीं। कैदी को शिकायत न हो तो जेल ही क्या? फिर वह तो मेजर फजलुद्दीन का जेल था। इन सात-आठ दिनों में ही असला शिकायतों के ढेर इकट्ठे हो गये थे 'बी क्लास' के कैदियों के घर के कपड़े, हजामत बनाने का समान, किताबें, लेखन सामग्री और ताश आदि मनोरंजन की चीजें तक ड्योढ़ी में रख ली गई थीं। हमारे फाउन्टेनपेन भी रोक लिए गये थे। गजब तो यह हुआ कि मौलाना आरिफ हस्वी का पानदान और उगालदान भी बैरक में नहीं जाने दिया गया। जेल में जाकर जब मैं मौलाना से मिला तो उनकी गालें पिचक कर आपस में मिल गई मालूम होती थीं और बोलने की शक्ति लगभग जाती रही थी, क्योंकि सात दिन से पान नहीं मिले थे। मौलाना दीवारों से चूना खुरच-खुरच कर अपनी जीभ के व्यसन को पूरा कर रहे थे। उनकी यह दशा देख कर हम लोगों की आँखों में आँसू आ गये। मौलाना फजलुद्दीन ने जेल में पानदान जाने की इजाजत न देने का कारण यह बतलाया था कि पान के थूकों से मेरा जेल गंदा हो जायगा और पान जीवन के लिये कोई जरूरी चीज भी नहीं है, वह तो अय्याशी की चीज है।

अन्य शिकायतों की सूची भी बहुत लम्बी थी। खाने में घी, आटा आदि जो सामग्री काम में लाई जाती थी, वह बहुत ही रद्दी और मैल से भरी हुई थी। चिट्ठी लिखने के लिये, यहां तक कि शिकायत लिखने के लिये भी कागज और कलम विशेष रूप से परेड के समय जेलर से मांगने पर ही मिल सकते थे, यूं तो हर एक बैरक में नहाने के फव्वारे (शावर बाथ) लगे हुए थे, परन्तु वह बन्द ही रहते थे। खाना बनाने वाले मशक्कती खाने के समय में गन्दी पहने

तैयार करके कोठरियों में बन्द कर दिये जाते थे। दोनों बैरकों की सम्मिलित सभा हुई, जिसमें निश्चय किया गया कि यह सब शिकायतें लिख कर सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब के पास भेजी जायें। भेजने का काम जत्थेदार की हैसियत से मेरे सुपुर्द किया गया।

[४]

मैंने जेलर से विशेष दरख्वास्त करके लिखने का सामान दफ्तर से मंगवाया और एक छोटा-सा शिकायती पत्र सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब के नाम लिख भेजा, जिसमें संक्षेप से १०–११ शिकायतें लिखी हुई थीं। जिस दिन वह पत्र दफ्तर में भेजा गया, उससे अगले रोज प्रातःकाल ७ बजे जेल के बड़े घन्टे ने एक टंकार बजाई। सब को मालूम हो गया कि मेजर साहब तशरीफ ला रहे हैं। थोड़ी देर में हमारी बैरक के दरवाजे से लम्बी लाम्बडोरी घुसती दिखाई दी। सबसे आगे चाबियों के गुच्छे सम्भाले हुए लम्बी दाढ़ी वाला हैडवार्डर, उसके पीछे कई सिपाही और नम्बरदार, इस सेना की संरक्षा में मेजर फजलुद्दीन उनके साथ एक छत्रधारी, जो हाथ में बहुत बड़ा छाता पकड़े हुए था और मेजर साहब को धूप से बचाता था। मेजर साहब के पीछे जेलर, असिस्टैन्ट जेलर और अन्य सिपाहियों की लाइन थी जो उस चतुरंगिणी सेना को पूरा करती थी। वार्ड के सब लोग टंकार सुनते ही इधर-उधर फैल गये थे, कोई नहाने चला गया तो कोई कोठरी से दूर खड़ा होकर दातन करने लगा। मेजर साहब ने कोठरियों के सामने आकर पूछा 'प्रोफेसर इन्द्र की सैल कौनसी है ?' हैडवार्डर ने भाग कर मेरी सैल में झांका और अर्ज किया कि हजूर सैल तो यही है पर कैदी अन्दर नहीं है। इस पर एक असिस्टेन्ट जेलर भागा हुआ मेरे पास गया, उसने मुझे सूचना दी कि जल्दी चलिये, मेजर साहब आपकी इन्तजार कर रहे हैं।

मैं नहाने के कपड़े बगल में दबाये हुए बेतकल्लुफी से मेजर साहब के सामने जा खड़ा हुआ। फिर हम में इस तरह बातचीत हुई।

मैंने पूछा, 'कहिये'। मेजर साहब का पारा काफी ऊंचा जा चुका था। आपने कोई आवश्यकता न होते हुए भी पूछा, 'आप ही प्रोफेसर इन्द्र हैं ?' शायद उन्हें यह सन्देह हुआ कि यह धोती-कुर्ता पहनने वाला आदमी प्रोफेसर कैसे कहला सकता है ? मैंने उनकी शंका का निवारण करते हुए कहा—

'जी हां, मैं ही प्रोफेसर इन्द्र हूं।'

मेजर साहब ने जेब से मेरी लिखी हुई शिकायती चिट्ठी निकाल कर पूछा—

क्या यह चिट्ठी आपने लिखी है ?

मैंने उत्तर दिया, 'जी'।

आपने जो शिकायतें लिखी हैं वह बिल्कुल गलत हैं आपने लिखा है कि खाने की चीजें बिलकुल रद्दी हैं। जेल मैनुअल के मुताबिक हमारा फर्ज है कि हम कैदियों के खाने के लिये ऐसी चीजें दें जो इन्सान के खाने के लायक (Fit for human consumption) हों।

हम कैदियों को ऐसी चीजें खाने को देते हैं। यह बात सुन कर मुझे गुस्सा तो बहुत आया, परन्तु मैंने अत्यन्त शान्त-भाव से उत्तर दिया:—

'वह चीजें इन्सान के खाने लायक हैं या नहीं यह तभी मालूम हो सकता है, अगर आप उन्हें कुछ दिनों तक खायें।'

इस उत्तर पर आस-पास के खड़े सभी लोग हंस पड़े। इस समय हमारे वार्ड के प्रायः सब भाई उस जगह इकट्ठे हो चुके थे। मेजर साहब के सामने बड़ी कठिन समस्या आगई। मेरे उत्तर से उनका जो हल्का-सा अपमान हुआ, उसके साक्षी जेल के सब अधिकारी और नम्बर-दार तक बन गये। अब उनके सामने दो ही मार्ग थे, या तो मुझे सजा देकर सुपरिन्टेन्डेन्ट की मान-मर्यादा की रक्षा करते या पहले बने हुए प्लान के अनुसार बाकायदा रिट्रीट करते हुए मैदान से भाग निकलते। मेजर साहब ने दूसरा रास्ता ही चुना। बड़े क्षोभ से भरी हुई आवाज

में हुक्म दिया, 'कैदी को दफ्तर में हाजिर करो।' और एकदम 'राइट-एबाउटटर्न' हो गये। काफिला जैसे आया था, वैसे ही वापिस हो गया। मेजर साहब का क्रोध और दण्ड मशहूर ही थे। मेरे साथी मुझे एक महीने के लिये विदाई देने में लग गये, क्योंकि उन्हें निश्चय था कि मुझे एक महीने की हथकड़ी-बेड़ी और बन्द कोठरी से कम सजा नहीं मिलेगी।

[५]

सुपरिन्टेन्डेन्ट को हमारी बैरक से गये दस मिनट ही हुये होंगे कि एक पीली वर्दी वाला सिक्ख नम्बरदार मुझे बुलाने के लिये आ पहुंचा। वह नम्बरदार मेजर साहब का खास आदमी समझा जाता था। मैं तब तक सब तरह से तैयार हो चुका था और अपने साथियों से विदाई भी ले चुका था। आगे-आगे नम्बरदार जा रहा था और पीछे-पीछे मै। रास्ते में एक जगह ऐसी आई जहां-आस पास कोई आदमी नहीं था। नम्बरदार ने मुंह सामने की ओर ही रखते हुए पंजाबी में कहा, 'बाबूजी, यह साहब बड़ा मूंजी और सख्त है। आप इससे सम्हल कर बातचीत करें। इसे गुस्सा बहुत जल्दी आ जाता है।' उसके स्वर से प्रतीत होता था कि उसे मुझ पर दया आ रही है, वैसी दया जैसी भेड़ को वध-स्थान पर ले जाते हुए उसके रखवाले को आती होगी।

नम्बरदार मुझे लेकर साहब के कमरे में घुसा तो मैंने एक दृष्टि से साहब और उसके कमरे को बड़े ध्यान से देख कर यह जानने का यत्न किया कि इस मुलाकात का भविष्य क्या होगा? मेजर साहब काले बुत की तरह अपनी कुर्सी पर डटे हुए थे। उनके सामने की मेज के आस-पास और कोई कुर्सी नहीं थी। मैं आकर सामने खड़ा होगया तो साहब ने नम्बरदार को हुक्म दिया—दरवाजा बन्द करते हुए बाहर चले जाओ। दरवाजा बन्द होने पर उस कमरे का बाहर की दुनिया से सम्बन्ध बिल्कुल टूट गया। अब उस कमरे में मेजर फजलुद्दीन और मेरे बीच में आने वाले ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं था। वह काले

पत्थर की मूर्ति कुर्सी से उठी, कमरे के एक कोने में गई, वहां से एक कुर्सी उठा कर मेरे पास रखते हुए अपनी कुर्सी पर जा बैठी और मुझे बैठ जाने का इशारा किया। मेरे बैठ जाने पर मेजर फजलुद्दीन ने खड़े होकर अपना हाथ आगे बढ़ाया। मैंने भी खड़े होकर अपना हाथ उनके हाथ में दे दिया। उसके पश्चात् हमारी जो बातचीत हुई, उसका आवश्यक भाग अपनी स्मृति से उद्धृत करके मैं यहां अंकित करता हूँ। सम्भव है इसमें कहीं किसी शब्द का भेद हो जाये, परन्तु मैं बातचीत में उस सारे प्रसंग को इतनी बार सुना चुका हूं कि भूल होने की सम्भावना बहुत ही कम है।

इस समय उस पत्थर की मूर्ति का चेहरा खूब सजीव हो चुका था, उस पर मुस्कराहट थी। उस मुस्कराहट का मैं यह अभिप्राय समझा कि वह मेरे आश्चर्य पर प्रसन्न हो रहा था। यह मूर्ति भी चेतन है और खड़ी हो कर हाथ मिला सकती है, इस पर मुझे जो आश्चर्य हो रहा था, उसका अनुमान लगा कर ही मेजर साहब मुस्करा रहे थे। हाथ मिलाने के पश्चात् हम दोनों बैठ गये। तब मेजर फजलुद्दीन ने मुझ से पूछा।

"प्रोफेसर साहब! क्या आप जालंधर जिले के रहने वाले हैं?"

मैंने उत्तर दिया—"जी हां। मेरी पैदायश तो जालन्धर जिले की ही है, लेकिन अब तो आप मुझे दिल्ली का बाशिन्दा ही समझिये।"

मेजर साहब—"आपको यह जान कर खुशी होगी, मैं आपका पड़ोसी हूं। मैं जिला होशियारपुर का रहने वाला हूं।"

"तब तो हम दोनों हम-वतन हैं" मैंने कहा।

इस पर मेजर साहब बोले "यह जान कर आपको शायद ताज्जुब होगा कि मैं आपका हमख्याल भी हूं" इस पर मुझे सचमुच ताज्जुब हुआ और मैंने उस प्रायः बुत की तरह चेतनाहीन रहने वाले चेहरे की तरफ देखा; वह मेरा भाव समझ कर बोले—"मैं सयासयात में डा० अन्सारी का पैरोकार हूँ। सरकारी नौकर हूँ तो क्या हुआ। दिल से मैं

पक्का नेशनलिस्ट हूँ।'

मेजर साहब के इस इकबाली बयान से मैं वस्तुतः आश्चर्यित हुआ।

यह प्रसंग यहीं खत्म हुआ और बात आगे चली।

मैंने मुस्कराते हुए कहा—"फर्माइये हमारी दरख्वास्त का क्या हुआ?"

मेजर साहब ने भी मुस्कराते हुए जवाब दिया—"उसका जवाब देने से पहले मैं आपसे एक सवाल करना चाहता हूँ। आप और हम जेल में दोस्त बन कर रहेंगे या दुश्मन?'

मैंने उत्तर दिया—"सरकार के तो हम दुश्मन ही हैं। आपके दोस्त रहेंगे या दुश्मन, इस सवाल का जवाब यह है कि अगर आप लोग हमारे साथ इन्सानों जैसा सलूक करेंगे तो हम दोस्त बन कर रहेंगे और अगर हमारे आत्मसम्मान को ठेस पहुँचायेंगे या हमें फजूल तंग किया गया तो हमारी और आपकी खूब डट कर लड़ाई होगी।"

इस पर मेजरसाहब ने कहा—"मेरी भी एक शर्त सुन लीजिये कि मुझे जिन इखलाकी कैदियों का इन्तजाम करना पड़ता है, वह सूबे भर के छटे हुए बदमाश हैं। मैं उन्हें कड़े डिसिप्लिन के बगैर काबू में नहीं रख सकता। आप मेरे जेल के उस डिसिप्लिन में दस्तन्दाजी न करें, तो मेरी ओर से आपको कोई शिकायत न होगी।'

मैंने उत्तर दिया, "हम आपके जेल-डिसिप्लिन में कोई दस्तन्दाजी नहीं करना चाहते। हां अगर कोई बेजाब्ती होती देखेंगे तो आप से जरूर कहेंगे।'

इस पर मेजर फजलुद्दीन ने फिर हाथ आगे बढ़ाते हुए कहा, "तब तो हमारा समझौता हो सकता है। आप यकीन रखें, आप लोगों को मेरी ओर से कोई शिकायत न होगी। आप लोग घर की तरह रहिये। सिर्फ इतना ख्याल रखिये कि प्राइवेट खतों या मुलाकातों द्वारा यह बात जेल की चहारदीवारी से बाहर न जाने पावे।

बाहर यही खबर जानी चाहिये कि आप लोग जेल में बहुत तंग हैं।'

इस अहदनामे के पश्चात् हमारी दरख्वास्त सामने रखी गई। पहली शिकायत घी के सम्बन्ध में थी। उसके विषय में मेजर साहब ने कहा, 'यह शिकायत तो बहुत आसानी से दूर हो सकती है, आप लोगों के साथ लायलपुर के डाक्टर किशनलाल भी हैं। वह लायलपुर के अपने किसी दोस्त को चिट्ठी लिख कर अच्छे घी के २० कनस्तर मँगवा लें। उनके दाम जेल का दफ्तर देगा। वह कनस्तर आप लोगों की देख रेख में अलग पड़े रहेंगे।'

घी का प्रबन्ध तो ठीक हो गया। अब आटे की शिकायत पेश हुई, उसके बारे में मेजर साहब ने यह व्यवस्था की कि शहर के किसी कांग्रेसी आदमी द्वारा बढ़िया गेहूँ की बोरियाँ खरीद ली जायें, पोलिटिकल कैदियों को उन्हीं का आटा दिया जाय। फव्वारे के बारे में निश्चय हुआ कि वे तब तक खुले रहा करेंगे जब तक हम नहा न लें। यह भी तय पाया कि हमारा खाना बनाने वाले मुशक्कती रात के नौ बजे तक खुले रहा करेंगे।

मैंने मौलाना आरिफ के पानदान का मामला भी पेश किया। मेजर फजलुद्दीन को सफाई का मेनिया था। वह सब से ज्यादा सख्त सजायें सफाई ठीक न रखने पर देता था। जब मैंने मेजर को समझाया कि यदि मौलाना आरिफ को पान खाने की इजाजत न मिली तो उनका पतला-दुबला शरीर १५ दिन से ज्यादा न चल सकेगा, तो मेजर साहब ने यह राजीनामा पेश किया कि वह कभी पान थूक कर फर्श पर न गिरायेंगे और केवल नाली पर थूकेंगे तो उन्हें पानदान दिया जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही था कि यह राजीनामा सिर्फ एक बहाना था। असलमें तो पानदान भी उस बड़े इकरारनामे का ही एक हिस्सा था। मेजर साहब ने समझा कि लगते हाथ एक वायदा भी ले लो, जिससे आगे दबाने का मौका बना रहे।

इस प्रकार मेरी और मेरे द्वारा उस जेल के राजनैतिक मेजर

फजलुद्दीन से अहदनामा हो गया। जब मैं दफ्तर से अपनी कोठरी में वापस आया तो मेरे साथियों को बहुत आश्चर्य हुआ। वह तो इस समाचार की प्रतीक्षा में थे कि मेरे हथकड़ी-बेड़ी पहन कर बैरक नम्बर १४ में पहुंच जाने का समाचार मिले तो 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे लगा कर युद्ध की घोषणा की जाये। मुझ से अहदनामे के समाचार सुन कर सभी साथी प्रसन्न हुए। मेरे परिचित समाज में प्रायः यह माना जाता है कि मैं साधारण से अधिक आशावादी और विश्वासी व्यक्ति हूँ। प्रत्येक चीज में आशा की रेखा देख लेता हूँ और प्रत्येक व्यक्ति पर विश्वास कर लेता हूँ। मैं इस आरोप का न खण्डन करता हूँ, न मण्डन। मैं जैसा हूँ, वैसा ही हूँ। मुलतान-जेल में भी वैसा ही था। मेरे कई नौजवान साथियो ने अविश्वासपूर्वक सिर हिलाते हुए कहा कि मेजर फजलुद्दीन ने आपको धोखा दे दिया। वह अहदनामे पर कायम नहीं रहेगा। परन्तु मैंने उन्हें आश्वासन दिलाया कि ऐसा नहीं होगा। कम-से-कम इस समय हमें यही मान कर चलना चाहिए।

(६)

१९३२ में दिल्ली और पंजाब के कम-से-कम तीन सौ 'ए' और 'बी' क्लास के राजनीतिक-बन्दी मुलतान की न्यू सेन्ट्रल जेल में रहे होंगे। उनमें से प्रायः सभी इस बात पर सहमत होंगे कि सामान्यरूप से मेजर फजलुद्दीन ने अपने वायदे को निभाने का प्रयत्न किया। हिन्दुस्तान के उस युग के जेल, निचले कर्मचारियों का विरोध और सी० आई० डी० का डर—इन सब कारणों के होते हुए भी यदि उस बार के जेल-जीवन में अधिक विक्षोभ उत्पन्न नहीं हुआ तो उसका बहुत कुछ श्रेय इस बात को मिलना चाहिए कि मेजर फजलुद्दीन का बाह्य-रूप जैसा काला और कठोर था, वैसा आन्तरिक-रूप नहीं था। मैंने देखा कि बड़े से बड़े विक्षोभ के उत्पन्न हो जाने पर भी मेजर का यही यत्न रहता था कि किसी तरह समझौते से काम चल जाय।

कुछ दृष्टान्त लीजिये। एक बार कैदियों के भाग्यविधाता हैडवार्डर साहब हम लोगों से नाराज हो गये। किसी नौजवान को कोई शिकायत शायद उन्हें बुरी लगी। नाराज होकर उसने दरोगा के कान भरे। दरोगा एक खां साहब था जो इस बात से बहुत नाराज था कि मेजर साहब कांग्रेसी कैदियों के साथ रियाअती सलूक करते हैं। दरोगा ने हुक्म दे दिया कि रात को सात बजे सब मुशक्कती बन्द कर दिये जांय। उससे पहले ही खाना तैयार हो जाना चाहिए। इधर हम लोग आठ-साढ़े आठ बजे वाजीबॉल खेल कर निवृत्त होते और तब खाना खाते थे। जब हम लोगों को इस आर्डर का पता लगा तब सब ने प्रतिवाद करने का निश्चय किया। प्रतिवाद का यह रूप बनाया गया कि मुशक्कतियों के बन्द होने के पश्चात् खाने का सामान सिरो पर उठा कर हम लोग अपनी बैरक से बाहर निकले। हम लोगों में कौन थे, यह भी सुनिये। पंजाब के पं० नेकीराम शर्मा, श्री चौधरी किशनगोपाल, डा० सन्तराम सेठ, मौलाना दाऊद गज्नवी, शेख हिसामुद्दीन, दिल्ली के श्री जुगलकिशोर खन्ना, डा० सुखदेव, श्री जैनेन्द्रकुमार तथा अन्य अनेक महानुभाव थे। हम लोगों का जलूस विचित्र रूप धारण किये हुए था। किसी के सिर पर दाल का देगचा, किसी के सिर पर आटे की परात और किसी के सर पर सब्जी की पतीली थी। हम लोग अपनी बेरक से बाहर निकल कर मध्य में बने हुए चक्कर में गये और वहां सब सामान रख कर अपनी बैरक में वापिस जाने लगे तो बेरक का दरवाजा रोक कर हैडवार्डर ने हुक्म दिया—'तुम लोग खां साहब के आने तक यहीं खड़े रहो, अन्दर जाना नहीं मिलेगा।' सब लोग वहीं रुक गये। इतने में अलारम का घण्टा बजने लगा और ६-७ मिनट में खां साहब सिपाहियों और नम्बरदारों को लठबन्द फौज के साथ आते दिखाई दिये। बेचारे बहुत ही घबराये हुए थे। समझ रहे थे कि हमने जेल तोड़ दिया। पास आये तो मालूम हुआ कि हम अन्दर जाना चाहते थे और हैडवार्डर ने

रोक दिया। यों हम सब लाठी चार्ज का स्वागत करने के लिये तैयार खड़े हैं। खां साहब के लिए मौका भी अच्छा था, परन्तु न जाने क्यों, उस समय वह कुछ घबरा गये। कहने लगे—आप लोग, अपने खाने का सामान लेकर बैरक में क्यों नहीं जाते ? हमने उत्तर दिया कि हम लोग गर्म खाना खाने के आदी हैं। । खाना सब ठण्डा हो गया है और रोटियां बनी ही नहीं। हम इसे ले जाकर क्या करेंगे।'

झुँझला कर दरोगा ने कहा कि 'आप किसी तरह अन्दर जायेंगे भी।'

हमने उत्तर दिया, आप हमारे खाना बनाने-खिलाने का इन्तजाम कर दीजिये, हम बैरक में चले जायेंगे।'

हार मान कर, जेलर ने कहा—अच्छा, आज तो मैं मुशक्कतियों को बुलवा देता हूँ, परन्तु कल आप सब की साहब के सामने पेशी होगी।

अगले दिन सब की तो नहीं, जत्थेदार की हैसियत से साहब के सामने मेरी पेशी हुई। मुझ से सारा वृत्तान्त सुन कर मेजर साहब ने जेलर को दफ्तर में बुलाया। मैं कुर्सी पर बैठा था और खां साहब अफसर के सामने खड़े हुए थरथर कांप रहे थे। मेजर साहब ने उन्हें खूब जोर की डांट लगाई और आज्ञा दो, कि "राजनैतिक कैदियों का खाना बनाने वाले मुशक्कती रात के नौ बजे तक खुले रखे जायं।'

[७]

सुना है कि मेजर फजलुद्दीन अब इस दुनिया में नहीं हैं। वह अपने महकमे में कैसी ख्याति छोड़ गये हैं, यह मुझे मालूम नहीं। मैं तो अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि वह आदमी बात का धनी था। मुझे यदि भविष्य में जेल जाते हुए यह चुनाव करने का अवसर दिया जाय कि मैं किस तरह की जेल में जाना चाहता हूँ, तो मैं किसी मधुर-भाषी परन्तु निर्बल जेलर की जेल में न जा कर मेजर फजलुद्दीन जैसे रूखे, परन्तु बात के धनी जेलर की जेल में जाना पसन्द करूंगा।